आचार्य सन्त भीखणजी

(जीवन-चरित्र और अध्ययन)

लेखक :

श्रीचन्द रामपुरिया बी० एल०

प्रकाशक :

हमीरमल पूनमचन्द रामपुरिया

सुजानगढ़ निवासी

मुद्रक
नवयुवक प्रेस,
३ कमर्शियल बिल्डिंग्स, कलकत्ता
(नेताजी सुभाष रोड)

प्रथम संस्करण सन् १९४८ १००० प्रति
प्रकाशक द्वारा महासभा को अर्पित
द्वितीय आवृत्ति सन् १९४८ २००० प्रति

तीन रुपया

भूमिका

प्रातःस्मरणीय श्रीमदाचार्य श्री भीषणजी स्वामी का यह जीवन-चरित्र पाठकों के समक्ष रखते हुए बड़ा हर्ष होता है। स्वामीजी का जीवन इतना महान्, तेजस्वी और पवित्र है कि उसमें अवगाहन करने से परमानन्द की सहज प्राप्ति हो तो उसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। स्वामीजी की जीवनी के सम्बन्ध में ज्यों-ज्यों खोज की जाती है, त्यों-त्यों अधिकाधिक सामग्री उपलब्ध होती जा रही है और अब हमारी धारणा हो गयी है कि स्वामीजी के जीवन-चरित्र की व्यापक शोध के लिए कम-से-कम १० वर्ष के संलग्न अध्ययन की आवश्यकता है। स्वामीजी की सफल जीवनी वही लिख सकता है, जिसे जैन-सूत्रों का संस्कारी ज्ञान हो और जिसे सूत्रों की सूक्तियां और आज्ञाएं जिह्वाग्र हों, क्योंकि स्वामीजी का समूचा जीवन सूत्रों की परछाया या उनकी प्रतिध्वनि है। जैन-संस्कृति और जैन-जीवन के वे एक महान् प्रतीक थे। जिन-वचनों में अटूट श्रद्धा उनके जीवन का ताना-बाना था। शुद्ध जैन साधु-जीवन और श्रावक-जीवन उनके तपस्वी जीवन की महान् और अनन्य देन थी। इस जीवन चरित्र के प्रथम खण्ड मे हमने स्वामीजी की जीवनी और दूसरे खण्ड—'जीवन-विश्लेषण' में स्वामीजी के जीवन की विशेषताओं को अङ्कित करने का प्रयास किया है। स्वामीजी के जीवन की सामग्री इतनी प्रचुर और इधर-उधर बिखरी हुई है कि एक दीर्घ समय तक गम्भीर अध्ययन के बिना उसका सङ्कलन एक असम्भव सा काम है। यह जीवन-चरित्र प्रायः कलकत्ते

में ही लिखा गया है, जहां स्वामीजी के जीवन विषयक अप्रकाशित साहित्य एवं उनकी कृतियों की बहुत ही कम उपलब्धि रही है। जीवन सामग्री की शोध जब कभी साधु-सन्तों की सेवा का मौका लगा, की गयी और कलकत्ते में उसे लिख कर तैयार किया गया है। सम्भव है इस तरह के सङ्कलन-कार्य में त्रुटियां रही हों। पाठकगण ऐसी त्रुटियां हमारे ध्यान में लाने की कृपा करें, ताकि उन्हें भविष्य में सुधार सकें।

इस जीवन चरित्र के द्वितीय खण्ड—'जीवन विश्लेषण' के अन्तर्गत हमने आठ प्रकरण ही दिये हैं। प्रेस के मन्थर गति से चलते हुए कार्य को देख कर साहस नहीं हुआ कि बाकी और १६ प्रकरण, जो तैयार हैं, छपने तक प्रकाशन को रोक कर रखा जाय। इस दृष्टि से यह मित्रों के सुझाव को स्वीकार करते हुए जीवन चरित्र जिस प्रकरण तक छप सका, वहां तक प्रकाशित कर पाठकों के सामने रखना उचित समझा। स्वामीजी की जीवनी की विशेषताओं को प्रदर्शित करने वाले १६ प्रकरण जो तैयार हैं और जिनके बिना ही वर्तमान संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है, दूसरे संस्करण में अन्तर्निहित रहेंगे। इन प्रकरणों के शीर्षक इस प्रकार हैं—(१) स्वामीजी के जीवन की विनोद कथाएं, (२) स्वामीजी की धर्म-कथाएं, (३) विराट् व्यवस्था-पुरुष, (४) विचक्षण न्यायाधीश एवं न्याय-प्रेरक स्वामीजी; (५) महान् साधक और तपस्वी स्वामीजी, (६) स्वामीजी के व्यक्तित्व का प्रभाव और जग-वन्दना, (७) अनुभव-वाणी और ज्ञान-वाणी (८) उत्कट प्रसंग, (९) गम्भीर रोग के चिकित्सक, (१०) दिग्विजयी चर्चा-वादी, (११) स्वामीजी के समय के वाद और उनका स्पष्टीकरण, (१२) रोगी परिचर्या और स्वामीजी, (१३) स्वामीजी और परिश्रमशीलता,

(१४) स्वामीजी और अद्‌भुत वचन सिद्धि के प्रसंग; (१५) उपाध्याय रूपमें स्वामीजी; (१६) सत्य के पुजारी और निर्भीक नेता रूप में स्वामीजी।

इस जीवन चरित्र के तैयार करने में हमें श्री पन्नालालजी भंसाली द्वारा संग्रहित "स्वामीजी के दृष्टान्तों" से बड़ा सहारा मिला। इसके लिए हम उनके प्रति कृतज्ञ हैं।

यदि यह जीवन-चरित्र पाठकों के जीवन निर्माण और स्वामीजी के जीवन-सम्बन्ध में जो गलतफहमियाँ फैलायी जा रही है, उन्हें दूर करने में जरा भी सहायक हुआ, तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूंगा। वैसे तो यह जीवन चरित्र स्वान्तः सुखाय ही लिखा गया है और इसे लिखते समय अनिर्वचनीय आनन्दकी प्राप्ति हुई है—आत्म-सन्तोषकी बात तो कर ही नहीं सकता, क्योंकि स्वामीजीकी जीवनी, जैसा कि मैं ऊपर लिख आया हूं, वर्षोंके संलग्न और एकान्त स्वाध्याय की आवश्यकता रखती है, फिर भी यहजीवन-चरित्र भावी लेखकोंके लिए कुछ दिशासूचक होगा ऐसी आशा है।

ता० ८-६-४८
१५, नूरमल लोहिया लेन
कलकत्ता

श्रीचन्द रामपुरिया

अनुक्रमणिका

खण्ड : १

खण्ड : २

जीवन-विश्लेषण

आचार्य संत भीखणजी

१

गृह-जीवन और दीक्षा

—जन्म—

सत भोखणजी का जन्म मारवाड राज्य के कंटालिया ग्राम में सं० १७८३ को आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी के दिन मूल नक्षत्र में हुआ था।

इस दिन को 'सर्व सिद्धा त्रयोदशो' भी कहा जाता है। सत भीखणजी को बड़ी विकट और प्रतिकूल परिस्थितियों में से गुजरना पड़ा था फिर भी वे अपने चरम लक्ष्य से नहीं भटके। उन्हें अपने मिशन में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। उनका जीवन-ध्येय किस प्रकार सम्पूर्ण सिद्ध हुआ यह पाठकों को आगे जाकर स्वय हो मालूम हो जायगा। अतः उनका इस दिन जन्म ग्रहण करना उनके सफल भावी जीवन का ही सकेत था।

उनके पिता का नाम साह बलूजी सकलेचा और माता का नाम दोपाँबाई था। साह बलूजी और दोपाँबाई दोनों ही बड़े सज्जन, सरल, सोधी-सादी प्रकृति के थ। ऐसे माता-पिता की सन्तान सुशील और गुणवान हो इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

संत भीखणजो के शरीर में अनेक लक्षण और शुभ चिन्ह थे। उनके दांये पेर में उर्द्ध रेखा का चिन्ह था। दांये हाथमें मच्छ रेखा थी। दसों अंगुलियों पर चक्र थे और पेट पर नाभि के पास स्वस्तिका का चिन्ह था और वहीं अन्यत्र ध्वजा का आकार। ये शुभ चिन्ह उनको भावी महानता और होनहारता के सूचक थ। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात'—यह कहावत ठीक ही है।

सत भीखणजो बचपनसे ही बडे वैरागी थ। धर्मकी ओर उनकी विशेष रूचि रहतो। उनको जो कुछ शिक्षा मिली वह गुरु के यहाँ ही। वे महाजनी

हिसाब में बड़े होशियार थे। उनकी बुद्धि बड़ी कुशाग्र थी और उन्हें मौके की अच्छी उपजती थी।

—यौवन—

बड़े होने पर घर के काम-काज की सार-सम्भाल और देख-रेखमें वे बड़े कुशल निकले। पंच-पंचायती के कामों में वे अग्रसर रहते। गांवमें वे बड़े बुद्धिमान समझे जाते थे और उनकी बड़ी पैठ थी। शुरू से ही वे बड़े दूरदर्शी थे।

संत भीखणजीके गृहस्थ-जीवनमें उपरोक्त गुणों पर प्रकाश डालने वाली अनेक घटनाएँ घटी होंगी परन्तु दुर्भाग्यवश आज हमें उनसे वंचित रह जाना पड़ता है। उनके गृहस्थ-जीवनकी बहुत थोड़ी घटनाओं की ही नोंध हमें मिलती है फिर भी वे उनकी असाधारण तीक्ष्ण बुद्धि और दूरदर्शिता का परिचय देती हैं। हम उनमें से दो-एक घटना यहाँ देते हैं।

एक दफे की बात है कि संत भीखणजी के गाँवमें किसीके घर से गहनों की चोरी हो गई। वहाँ एक अन्धा कुम्हार रहता था, जो बड़ा दम्भी था और कहा करता कि उसके मुँह देवता बोला करते हैं। गाँववालों का उस पर पूरा विश्वास जम चुका था। चोर का पता लगाने के लिए उसे बुलाया गया। संत भीखणजी गाँवमें सब से बुद्धिमान गिने जाते थे। वह कुम्हार उनके पास पहुँचा और कुछ देर इधर-उधर की बातें कर चोरी के प्रसंग पर आया और स्वामीजी से पूछने लगा:—"आप किस पर वहम (शुबा) करते हैं?" तीक्ष्ण बुद्धि श्री भीखणजी को आगे की बात ताड़ते हुए देर न लगी। वे उसकी ठग विद्या को समझ गए। बोले: "मेरा तो 'मजने' पर संदेह है।" यह बात दिनमें हुई। रातमें अन्धा कुम्हार चोरी वाले के घर पर पहुँचा। बहुत आदमी इकट्ठे हुए। कुम्हार कुछ देर इधर-उधर के टंटमस करता रहा, फिर बोला, "डाल दे रे डाल दे गहनें डाल दे।" परन्तु गहनें इस तरह कौन डालता? लोग चोर का नाम प्रगट

करने पर जोर देने लगे। इस पर कुम्हार ने तड़क कर कहा—"मजना चोर है, उसीने गहने चुराए हैं।" घर का मालिक यह सुन कर हक्का-बक्का रह गया। वह बोला—"मजना क्या गहने चुरावेगा! यह तो मेरे बकरे का नाम है।" यह सुन कर सब लोग हंस पड़े। मौका देखकर संत भीखणजी भी वहाँ आ पहुँचे और दिन में कुम्हार से जो बात चीत हुई थी उसको प्रगट करते हुए बोले: "तुमलोगों की अक्ल कहाँ गई जो आंखवालों के द्वारा चुराए हुए गहनों का पता अंधे आदमी से लगवाना चाहते हो!" इस तरह भीखणजी ने अपने बुद्धि-बल से कुम्हार की पोल खोलकर समूचे गांव को उसकी ठगी से बचाया। स्वामीजी दंभ और ढोंग को कभी पसंद नहीं करते थे। उनकी प्रकृति बड़ी खरी थी। आगे जाकर उनकी इस प्रकृति ने उनके जीवन में बहुत बड़ा कार्य सिद्ध किया।

संत भीखणजी की अनोखी सूझ, असाधारण बुद्धिमत्ता, कार्य-कुशलता और तत्क्षण बुद्धि को प्रगट करने वाली गृहस्थ-जीवन की एक अन्य घटना इस प्रकार है:—

एक बार वे किसी गाँव से आ रहे थे। साथ में बोलाऊ (रक्षक) था। वह राजपूत था। उसको तमाखू का व्यसन था। रास्ते में तमाखू पूरी हो गई। वह बोला:—"क्या करूँ, तमाखू बिना चला नहीं जाता।" संत भीखणजी ने सोचा—"अब यह छाटी डालने ही वाला है।" यह सोच कर तुरंत ही वे बोले: "ठाकर साहब! आगे चलिए, दिन थोड़ा है। मैं तमाखू खोजता हूँ।" इस तरह कह राजपूत को कुछ आगे बढ़ा दिया। परन्तु उससे विशेष चला नहीं गया। उसे जंभाइयाँ आने लगीं और वह रास्ते में ही बैठ गया। स्वामीजी पीछे से एक आरण छाना जला उसको महीन पीस और उसकी एक पुड़िया बांध राजपूत के पास आकर बोले:—"लीजिए यह तमाखू मिली तो है, परन्तु है कुछ ऐसी वैसी सी ही।" राजपूत ने चिमटी भर सूंघ कर कहा "अच्छी ही है। काम

चल जायगा।" ठाकुर होशियार हो गया और जल्दी-जल्दी चलने लगा। दोनों रास्ता तय कर दिन रहते-रहते घर पहुँचे। स्वामीजी की बुद्धि काम न करती और वे चतुराई से काम न लेते तो शायद दोनों को रास्ते में ही कष्ट से रात काटनी पड़ती।

संत भीखणजीको सामाजिक कुरीतियों से बड़ी चिढ़ थी। एक बार वे ससुराल गए। भोजनके लिए गए तो स्त्रियाँ गालियाँ गाने लगीं "ओ तो कालो धनो ने कावरोजो लाल।" भीखणजीने भोजन करना बंद कर दिया। उनका साला लंगड़ा था। इस बातका सहारा लेकर वे विनोद करते हुए बोले "आप भले खोड़ेको तो अच्छा बतलाते हैं और अच्छे को बुरा। क्या यह ठीक है? फिर 'यह मुझे पसन्द नहीं है"—ऐसा कह अपना विरोध दिखाते हुए बिना भोजन किए ही उठ चले। उनके इस तीव्र विरोध का फल जो होने का था वही हुआ।

—विवाह—

भीखणजी का विवाह कब हुआ यह मालूम नहीं परन्तु पता चलता है कि वह छोटी उमरमें ही कर दिया गया था। उनके एक पुत्री हुई थी। स्वामी जी स्वभाव से ही वैरागी थे। इस प्रकार बाल्यावस्था में ही वैवाहिक जीवन में डाल दिए जाने पर भी उनकी आन्तरिक वैराग्य भावना में फर्क नहीं आया। भोग और विलासमें उन्हें चैन न मिलता और संसार से वे उद्विग्न और खिन्न चित्त रहते थे। उनका गृहस्थ-जीवन बड़ा संयत था। उनकी पत्नी भी उन्हीं की तरह धार्मिक प्रकृति की और बड़ी विनयशील थी। ऐसी युगल जोड़ी कम मिलती है।

—वैराग्य और दीक्षा—

संत भीखणजी के माता पिता गच्छवासी सम्प्रदायके अनुयायी थे। अतः पहले-पहल भीखणजी का इसी सम्प्रदायके साधुओंके पास आना-जाना शुरु

हुआ। बादमें इनके यहाँ आना-जाना छोड़ वे पोतियाबंध साधुओंके अनुयायी हुए। इनके प्रति भी उनकी भक्ति विशेष समय तक टिक न सकी और वे बाईस सम्प्रदाय की एक शाखा विशेष के आचार्य श्री रुघनाथजी की सम्प्रदाय के अनुयायी हुए।

इस तरह भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंके संसर्गमें आने से चाहे और कोई लाभ हुआ हो या न हुआ हो परन्तु इतना अवश्य हुआ कि सांसारिक जीवनके प्रति भीखणजी की उदासीनता दिन-पर-दिन बढ़ती गई और वह यहाँ तक बढ़ी कि उन्होंने दीक्षा लेनेका विचार ठान लिया। उनके साथ उनकी पत्नीने भी दीक्षा लेनेका विचार कर लिया, और दोनों ब्रह्मचर्यका पालन करने लगे। पूर्ण युवा अवस्थामें ब्रह्मचर्य पालन का नियम ले दोनोंने उठते हुए यौवन की उद्दाम तरंगों पर वैराग्य और संयम की गहरी मुहर लगा दी। प्राप्त भोगों को ठुकरा कर दोनोंने सच्चे त्यागी होनेका परिचय दिया। कहा भी है—

> वत्थगन्धमलंकारं इत्थियो सयणाणि य।
> अच्छन्दा जे न भुंजन्ति न से चाइ त्ति वुच्चइ॥
> जे य कन्ते पिए भोए लद्धे वि पिट्ठिकुव्वइ।
> साहीणे चयई भोए से हु चाइ त्ति वुच्चई॥

अर्थात्—जो वस्त्र, गन्ध, अलंकार, स्त्री और शयन का परवशतासे सेवन नहीं करता वह कोई त्यागी नहीं है; पर जो कान्त और प्रिय भोगों को भी पीठ दिखा देता है और स्वाधीन भोगोंको भी छिटका देता है वही वास्तवमें त्यागी है।

ब्रह्मचर्यके नियमके साथ-साथ एक अन्य नियम भी दोनोंने ग्रहण किया। उन्होंने यह प्रतिज्ञा की कि जब तक दीक्षा की इच्छा पूरी न होगी तब तक दोनों एकान्तर—एक दिनके बाद एक दिन—उपवास किया करेंगे। इस प्रतिज्ञा

के कुछ अर्से बाद ही श्रीमद् भीखणजी की पत्नी का स्वर्गवास हो गया। अब वे अकेले ही रह गए। इस वियोगसे उनकी वैराग्य-भावना को और भी उत्तेजना मिली। "काल का क्या भरोसा है ? जैसे कुश की नोक पर टिके हुए जल-बिंदु को गिरते देर नहीं लगती वैसे ही यह जीवन कब विलीन हो जाय क्या ठिकाना है ? शुभ काममें एक समय का भी प्रमाद करना भयंकर भूल है।" भीखणजी रात-दिन इन्हीं विचारों में लीन रहने लगे। लोगोंने उनको फिर विवाह करने के लिए समझाया परन्तु उन्होंने किसी की न सुनी। अच्छे सम्बन्ध मिलते हुए भी उन्होंने सबको ठुकरा दिया और यावज्जीवन ब्रह्मचर्य पालन की प्रतिज्ञा कर ली। संत भीखणजी का वैराग्य कितना उत्कट था, यह उपरोक्त घटना से साफ-साफ प्रगट होता है। दीक्षा लेनेके पूर्व उन्होंने अपनी योग्यता को किस प्रकार कसौटी पर कसा था, इसका अनुमान एक अन्य घटना से भी होगा।

जब भीखणजी का दीक्षा लेने का विचार हुआ तो उन्होंने अपनी अजमाइश के लिए केरका औसाया हुआ (केर उबाल कर जो जल निकाल दिया जाता है) जल लिया। उसे एक ताम्बेके लोटेमें डाल कर उसमें राख मिला उसे पंडेल (हण्डियोंकी बेड) में रख दिया। बहुत देर बाद जब वह जल नितर गया—स्वच्छ हो गया तो उसे पिया। इससे उनको बड़ा कष्ट हुआ। साधु बनने पर पके जल पीनेके नियम को वे निभा सकेंगे या नहीं इसी जाँचके लिए उन्होंने निस्वादसे-निस्वाद पके जल को लेकर अपनी अजमाइश की। दीक्षा लेनेके कोई ४१ वर्ष बाद संत भीखणजीने हेमराजजी स्वामीको अपने जीवन की इस घटनाका जिक्र किया और बोले : "साधु होनेके बाद आज तक वैसा निरस पानी पीनेका काम नहीं पड़ा।"

इस तरह अपनेको अनेक तरहसे तप-तपास कर वे भीतर ही भीतर मुनि-जीवनके लिए सम्पूर्ण रूपसे तैयार हो गये और फिर दीक्षा लेनेका विचार

माता दीपाँबाई से प्रगट किया और दीक्षाके लिए अनुमति मांगी।

कहा जाता है कि जब संत भीखणजी उदरमें थे तब माता दीपांबाई को स्वप्नमें एक केशरी सिंह का दृश्य दिखाई दिया था। इससे उनकी धारणा थी कि उनका पुत्र महा यशस्वी होगा और वह उस शुभ मुहुर्त की धीर चित्तसे प्रतीक्षा कर रही थीं। अपने पुत्रके मुखसे दीक्षा की बात सुनकर दीपाँबाई को बड़ी निराशा हुई। साह बलूजीका देहान्त हो चुका था। भीखणजी अपनी माता के एकलौते पुत्र और एक मात्र सहारे थे। इस परिस्थिति में उनका दीक्षा लेनेका विचार माताको कैसे सह्य होता ? उन्होंने दीक्षा के लिए अनुमति देनेसे इन्कार कर दिया।

भीखणजीके एक भूआ थी। वह उनसे बोली : "यदि तुम दीक्षा लोगे तो मैं कटारी खाकर मर जाऊँगी।" इन सब कठिनाइयोंके उपस्थित होने पर भी भीखणजी अपने विचारसे पीछे नहीं हटे। संसारसे उनका चित्त खिन्न हो चुका था और साधु-जीवनके प्रति उनकी लौ लग चुकी थी। अपनी भूआ से उन्होंने कहा : "कटारी क्या कोई पूरी है कि कोई उसे पेटमें खा डाले ? ऐसी व्यर्थ बातोंसे मुझे अटकाने की चेष्टा न करें।"

भीखणजी आचार्य रुघनाथजीके पास दीक्षा लेना चाहते थे। जब उनको यह सब बातें मालूम हुईं तो वे खुद दीपाँबाई से आज्ञा दिलवाने की चेष्टा करने लगे। दीपाँबाई सिंह-स्वप्नकी चर्चा करती हुई बोलीं : "भीखण के भागमें साधु होना नहीं, कोई वैभवशाली पुरुष होना बदा है। मैं अपने होनहार पुत्रको आपको कैसे सौंप सकती हूँ ?" इस प्रकार हठ करने पर आचार्य रुघनाथजीने दीपाँबाईसे कहा : "तुम्हारा यह मिथ्या नहीं जायगा। प्रव्रज्या लेकर भीखण सिंह कीतरह गूंजेगा।" आचार्य की यह भविष्यवाणी अक्षरशः सत्य निकली। माता की धारणाके अनुसार भीखणजी कोई ऐश्वर्य्य शाली मुकुट धारी राजा भले ही न हुए हों परन्तु वे चारित्रात्मा-

ऐसे सम्राट त्यागियों के मुकुटमणी तथा तत्त्वज्ञान और अखण्ड आत्म-ज्योतिके धारक महापुरुष अवश्य निकले।

दीपांबाई ने आखिर दीक्षाकी अनुमति दे दी। अपने वैधव्य जीवन के एक मात्र सहारे और दुलारे पुत्रको इस प्रकार दीक्षा की अनुमति देकर दीपां-बाईने जिस साहस और धर्मप्रेम की भावनाका परिचय दिया वह एक महान् माताके अनुरूप ही था। उनकी यह न्यौछावर दुनिया को एक कितनी बड़ी देन थी इसका आभास पाठकों को आगे जाकर होगा।

दीक्षा लेते समय संत भीखणजीने करीब १०००) रुपये अपनी माताके पास छोड़े।

संत भीखणजीकी दीक्षा बगड़ी शहर में हुई। आचार्य रुघनाथजीने खुद अपने हाथसे उन्हें दीक्षा दी। उस समय संत भीखणजी की अवस्था २५ वर्ष की थी। इस तरह २५ वर्ष का वह तेजस्वी युवक अद्भुत वैराग्य भावनाओंसे उच्छ्वासित हो त्याग मार्ग का बीड़ा उठा निश्रेयसके मार्ग पर अग्रसर हुआ।



२

दीक्षा के बाद ८ वर्ष

—विचक्षण शिष्य—

संत भीखणजी की दीक्षा सम्वत् १८०८ की सालमें हुई। दीक्षाके बाद के ८ वर्ष को हम उनके जीवन का स्वाध्याय काल कहेंगे। इस दीर्घ काल को उन्होंने जैन शास्त्रों के गम्भीर अध्ययन और चिंतन में बिताया और प्रचुर ज्ञान-धन सचय किया। उनकी बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण थी। वे तत्त्व को बहुत ही शीघ्र ग्रहण कर सकते। थोड़े ही दिनों में उन्होंने जैन दर्शन और धर्म का तलस्पर्शी और गम्भीर ज्ञान प्राप्त कर लिया। तात्त्विक चर्चा में उनकी अबाध गति हो गई। हंस में जैसे नीर-क्षीर का विवेक होता है, वैसे ही तत्त्व को अतत्त्व से पृथक करने में उनकी बुद्धि बड़ी सतौल थी। गहरे अध्ययन से उन्हें आभास होने लगा जैसे शुद्ध दर्शन और धर्म-क्रिया दोनों ही का साधु संघ में अभाव हो। ऐसा विवेक हो जाने पर भी आत्मबल इतना दृढ नहीं हो पाया था कि वे खुल्लम खुल्ला इस बातको प्रगट कर सकते। हालां कि बीच-बीच में वे आचार्य रुघनाथजी से तत्त्व ज्ञान, धर्म और आचार-विचार विषयक ऐसे गूढ़ प्रश्न अवश्य पूछ बैठते जो उनके गभीर पाण्डित्य का ही परिचय नहीं देते परन्तु साधु समाज के आचार–विचार पर भी एक टिप्पणीसे होते और एक धीमी भूचाल की सी लहर छोड़ जाते। आचार्य रुघनाथजी ऐसे प्रश्नों के उपस्थित होने पर या तो चुप रहते या टालमटोल जवाब देकर परिस्थिति को बचा लेते। संत भीखणजी उनके बड़े प्रिय शिष्य थे और उनकी बुद्धि पर उन्हें नाज था। संत भीखणजी के तीव्र वैराग्य भाव के कारण आचार्य उन्हें आन्तरिक स्नेह से देखते और यह बात प्रगट-सी थी कि भावी आचार्य वे ही होंगे।

ओंके सम्राट, त्यागियों के मुकुटमणी तथा वत्वज्ञान और अखण्ड आत्म–ज्योतिके धारक महापुरुष अवश्य निकले।

दीपांबाई ने आखिर दीक्षाकी अनुमति दे दी। अपने वैधव्य जीवन के एक मात्र सहारे और दुलारे पुत्रको इस प्रकार दीक्षा की अनुमति देकर दीपां-बाईने जिस साहस और धर्मप्रेम की भावनाका परिचय दिया वह एक महान् माताके अनुरूप ही था। उनकी यह न्यौछावर दुनिया को एक कितनी बड़ी देन थी इसका आभास पाठकों को आगे जाकर होगा।

दीक्षा लेते समय संत भीखणजीने करीब १०००) रुपये अपनी माताके पास छोड़े।

संत भीखणजीकी दीक्षा बगड़ी शहर में हुई। आचार्य रुघनाथजीने खुद अपने हाथसे उन्हें दीक्षा दी। उस समय संत भीखणजी की अवस्था २५ वर्ष की थी। इस तरह २५ वर्ष का वह तेजस्वी युवक अद्भुत वैराग्य भावनाओंसे उच्छ्वासित हो त्याग मार्ग का बीड़ा उठा निर्ग्रन्थके मार्ग पर अग्रसर हुआ।



२

दीक्षा के बाद ८ वर्ष

—विचक्षण शिष्य—

संत भीखणजी की दीक्षा सम्वत् १८०८ की सालमें हुई। दीक्षाके बाद के ८ वर्ष को हम उनके जीवन का स्वाध्याय काल कहेंगे। इस दीर्घ काल को उन्होंने जैन शास्त्रों के गम्भीर अध्ययन और चिंतन में विताया और प्रचुर ज्ञान-धन संचय किया। उनकी बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण थी। वे तत्त्व को बहुत ही शीघ्र ग्रहण कर सकते। थोड़े ही दिनों में उन्होंने जैन दर्शन और धर्म का तलस्पर्शी और गम्भीर ज्ञान प्राप्त कर लिया। तात्त्विक चर्चा में उनकी अबाध गति हो गई। हँस में जैसे नीर-क्षीर का विवेक होता है, वैसे ही तत्त्व को अतत्त्व से पृथक करने में उनकी बुद्धि बड़ी सतौल थी। गहरे अध्ययन से उन्हें आभास होने लगा जैसे शुद्ध दर्शन और धर्म-क्रिया दोनों ही का साधु संघ में अभाव हो। ऐसा विवेक हो जाने पर भी आत्मबल इतना दृढ़ नहीं हो पाया था कि वे खुल्लम खुल्ला इस बातको प्रगट कर सकते। हालाँ कि बीच-बीच में वे आचार्य रुघनाथजी से तत्त्व ज्ञान, धर्म और आचार-विचार विषयक ऐसे गूढ़ प्रश्न अवश्य पूछ बैठते जो उनके गंभीर पाण्डित्य का ही परिचय नहीं देते परन्तु साधु समाज के आचार-विचार पर भी एक टिप्पणीसे होते और एक धीमी भूचाल की सी लहर छोड़ जाते। आचार्य रुघनाथजी ऐसे प्रश्नों के उपस्थित होने पर या तो चुप रहते या टालमटोल जवाब देकर परिस्थिति को बचा लेते। सत भीखणजी उनके बड़े प्रिय शिष्य थे और उनकी बुद्धि पर उन्हें नाज था। सत भीखणजी के तीव्र वैराग्य भाव के कारण आचार्य उन्हें आन्तरिक स्नेह से देखते और यह बात प्रगट-सी थी कि भावी आचार्य वे ही होंगे।

गुरु शिष्य का यह स्नेह और विनय भाव ७ वर्षों तक एकधार चलता रहा। न शिष्य की जिज्ञासु वृत्ति ने उसमें अविश्वास पैदा किया और न आचार्य की शिथिलाचार वृत्ति ने उसमें खेद-खिन्नता।

—राजनगर का चौमासा—

परन्तु इसके बाद ही एक ऐसी घटना घटी, जिसने संत भीखणजी के जीवन में एक महान् परिवर्तन कर दिया। सम्वत् १८१५ की बात है। मेवाड़में राजनगर नामक एक शहर है। उस समय भी वह एक बहुत बड़ी बस्ती थी। वहाँ आचार्य रुघनाथजीके सम्प्रदायके अनेक श्रावक (अनुयायी) रहते थे। इन श्रावकोंमें अधिकांश महाजन थे। इनमें कई श्रावक अच्छे विद्वान और आगम रहस्यको समझने वाले थे। वे साधुओंके आचार-विचार की शिथिलतासे खेद खिन्न थे और बात यहाँ तक बढ़ी कि इन श्रावकोंने आचार्य रुघनाथजी और उनके सम्प्रदायके साधुओंको वन्दना नमस्कार करना तक छोड़ दिया। उस समय आचार्य रुघनाथजी मारवाड़में थे। उनके कानोंमें भी यह बात पड़ी और वे चिन्तित हो गए। उन श्रावकोंको समझा कर रास्ते पर लाना जरूरी था। परन्तु यह काम जिस तिस से बनने का नहीं था। उन्होंने शिष्य भीखणजी को ही इसके उपयुक्त समझ उन्हें चुना और बोले—'जाओ! तुम बुद्धिमान् हो। राजनगर के श्रावकों की शंकाओं को दूर करो। देखो! जिससे वे फिर वन्दना करने लगें।'

संत भीखणजी ने गुरु आज्ञा शिरोधार्य कर राजनगर के लिए विहार किया। श्री टोकरजी, हरनाथजी, वीरभाणजी और भारीमालजी ये अन्य चार साधु उनके साथ थे। संवत १८१५ का चौमासा राजनगर में ही किया। यह चौमासा संत भीखणजी के भावी जीवन पर बड़ा ही गहरा प्रभाव डालने वाला हुआ। श्रीमद् जयाचार्य ने इस चौमासे को 'चौमासा गुणकार' कह कर सम्बोधित किया है।

—एक आत्म-वञ्चना—

संत भीखणजी के पधारने पर श्रावक उनके पास आए और अपने अभियोग का पुलिन्दा उनके सामने खोलते हुए बोले—"आपलोग तो जान-बूझ कर दोषोंका सेवन करने लगे हैं। खुले आम स्थापित स्थानों में रहते हैं और इस तरह आधाकर्मी दोष का सेवन करते हैं। निरोग अवस्था में भी नित्य एक ही घर की गोचरी करते हैं। विना आज्ञा जिस-तिस को मुंड लेते हैं। वस्त्र, पात्र, उपधि विषयक सारी मर्यादाओं को तिलाञ्जली दे दी है। न आप में शुद्ध श्रद्धा है, न शुद्ध आचार फिर हम वंदना किस तरह कर सकते हैं ?"

एक ओर श्रावकों की ये सच्ची बातें थीं और दूसरी ओर आचार्य की टेक। एक ओर मिथ्या आत्म-सन्मान का सवाल था और दूसरी ओर सच्चाई के आगे सिर झुकाना। सत्य को सत्य साबित होने देना या मिथ्यापर सत्य का आवरण डाल देना—भीखणजी के हृदय में इन द्वन्द्वोंने काफी संघर्ष पैदा किया होगा ! उनकी अवस्था बड़ी विचित्र हुई होगी ! परन्तु सत्य-प्रेम का झरना अभीतक अन्तर वेगसे कहाँ फूट पड़ा था कि वे न्याय मार्गको ग्रहण कर सकते। उन्हों ने बुद्धि-बलसे श्रावकों को समझाने की चेष्टा की और अनेक तरह के उपायोंका सहारा ले उन्हें पैर छू कर वन्दना करने को राजी किया। श्रावकोंने वन्दना करना तो शुरू किया परन्तु वास्तवमें उनके हृदय की शंकाएँ दूर नहीं हो सकीं। उन्होंने भीखणजीसे कहा भी—"आप वैरागी हैं इसलिये हम आपका विश्वास कर वन्दना करते हैं बाकी हमारी शंकाएँ निर्मूल नहीं हो सकी हैं।"

आचार्यकी बात रखनेके लिये भीखणजीने कुछ चालाकीसे काम लिया और मिथ्या पक्षका समर्थन कर झूठको आश्रय दिया। इस प्रकार वे आत्म-वञ्चना का जहर पी गए। गुरु और साधु पदकी मर्यादाकी रक्षाके लिए साधु होते हुए भी उन्होंने श्रावकोंके सत्य विचारोंको गलत प्रमाणित किया और आगम विरुद्ध आचार का मण्डन किया।

—अनुताप और प्रतिज्ञा—

इस घटनाके बाद ही सन्त भीखणजी को तीव्र ज्वरका प्रकोप हुआ। शीतसे उनका शरीर थर-थर कांपने लगा। दाह-ज्वर से अत्यन्त वेदना उत्पन्न हुई और उसके साथ ही उनके विचारोंमें तुमुल संघर्ष हुआ। विचार धारामें एक अपूर्व क्रान्ति—लहरी हल-चल मच गई। आत्म-वञ्चनाके पापसे उनकी आत्मा कांपने लगी। उन्हें तीव्र पश्चाताप और आत्म-ग्लानिका बोध होने लगा। उन्होंने विचारा—'मैंने कैसा अनर्थ किया! सचोंको झूठ ठहराया! यदि इस समय ही मेरी मृत्यु हो जाय तो मुझे कितनी नीच गतिमें जाना पड़े! मैंने जिन भगवानके वचनोंको विपरीत ठहरा कितना बड़ा पाप किया! दुर्गतिमें जाते समय मेरे ये गुरु किस तरह शरणभूत होंगे? इस पापसे कौन मेरा त्राण कर सकेगा?" उनकी आत्मा इन पवित्र भावनाओं को भाने लगी और आत्म वञ्चनाके विषको बटोर-बटोर कर बाहर फेंकने लगी। इस तरह धर्म-ध्यानको ध्याते-ध्याते उन्होंने प्रतिज्ञा की—"यदि मैं इस बीमारी से मुक्त हुआ तो अवश्य ही निष्पक्ष हो सच्चे मार्गको अपनाऊँगा। जिनेश्वर देव भाषित सच्चे सिद्धान्तोंको अङ्गीकार कर उनके अनुसार जीवन चलाने में किसीकी परवाह नहीं करूँगा।" इस प्रकार उनके हृदय-पटल खुल गए। एक दिव्य आन्तरिक प्रकाश ने उनका अन्तर-लोक जगमगा उठा और वह प्रकाश उनके जीवन-पथको अन्तिम घड़ियों तक आलोकित करता रहा। तीव्र बुखारके समय उन्होंने कितनी पवित्र प्रतिज्ञा की! आन्तरिक वैरागीको परभवका कितना भय होता है—यह भीखणजीके जीवन की इस घटनासे कितना स्पष्ट प्रगट होजाता है।

—मौन स्वाध्याय—

विपत्तिमें जहाँ पामर प्राणी हाय-तोबा कर और वेदनाको समभावसे सहन न कर और भी अधिक अघका सञ्चय करता है, वहाँ सच्चा मुमुक्षु पुरुष अपनी

आत्माके उद्धारमें प्रवृत्त होता है। ज्यों-ज्यों शारीरिक वेदनाका वेग घटता है, त्यों-त्यों उसके हृदयकी वृत्तियोंकी अन्तर्मुखता भी बढ़ती जाती है और उसकी आत्मा अधिकाधिक सत्यके दर्शनके लिये दौड़ने लगती है। सांसारिक प्राणीकी दृष्टि जहाँ मिथ्या आत्म-सन्मान, वाह्य-छव और प्रतिष्ठाकी खोज करती है वहाँ मुमुक्षुकी दृष्टि अन्तरकी ओर ताकती है और अपने किये हुए बुरे कार्योंका पश्चाताप कर आत्म-शुद्धि करती है। मुमुक्षु कभी मानापमानकी धारामें बह भी जाता है तो भी उसे तैर कर बाहर आनेमें देर नहीं लगती। सन्त भीखणजीके विषयमें भी ऐसा ही हुआ। वे आन्तरिक मुमुक्षु थे और इसीलिए अपनी भूलका इस तरह प्रमार्जन कर सके। सन्त भीखणजीको अब सत्यका दर्शन हो चुके थे फिर भी वे अधीर न हुए। आत्मार्थी देख-देख कर पैर धरता है। वह अधीरता को महान् पाप समझता है। वह अपने विचारोंको एक बार दो बार नहीं परन्तु बार-बार सत्य की कसौटी पर कसता है और जब जरा भी सन्देह नहीं रह जाता तब जो अनुभवमें आता है उसे साफ-साफ प्रगट करता है। स्वामीजीने भी अन्तिम निर्णयके लिए इसी मार्गका अवलम्बन किया। उन्होंने धीर चित्त से दो बार सूत्रों का सूक्ष्म अध्ययन किया। गुरु की पक्ष ले झूठ को सत्य प्रमाणित करना जहाँ महान् दुःख का कारण होता वहाँ गुरुके प्रति भी अधीरज वश कोई अन्याय कर बैठना दुर्गति का कारण था। इस दुधारी तलवार से बचने के लिए मौन स्वाध्याय और आगम दोहन ही एक मात्र उपाय था। इस दोहन से उन्हें इस बात का पूरा-पूरा भरोसा हो गया कि श्रावकों का पक्ष सत्य है और साधु लोग वास्तवमें ही जिन-आज्ञा का तिरोभाव कर रहे हैं। अब अपनी भूल को सुधारना उन्होंने जरूरी समझा और निर्भिकता से अपना निर्णय देते हुए बोले—"श्रावको! तुमलोग सच्चे हो। हमलोग झूठे हैं। गुरुसे मिलकर हमलोग शुद्ध मार्ग को ग्रहण करेंगे।" संत भीखणजी की इस खरी बातको सुनकर श्रावक

बड़े ही हर्षित हुए और उनके मनमें संघके उद्धार की जो महत्त्वाकांक्षा थी वह उन्हें शीघ्र ही सफल होती प्रतीत हुई। श्रावक बोले—"हमें आपसे ऐसा ही भरोसा था।"

—वापिस आचार्यके पास—

श्रीमद् भीखणजीने जिनोक्त मार्ग अंगीकार करने की प्रतिज्ञा की थी, इससे पाठक यह न समझें कि उन्होंने आचार्य रुघनाथजी के शिष्य न रहने की ही ठान ली थी और वे एक अलग आचार्यके रूपमें प्रगट होना चाहते थे। जहाँ सच्चा मार्ग हो वहाँ गुरु रूपमें या शिष्य रूपमें रहना उनके लिए समान था। आत्म-कल्याण का प्रश्न ही उनके सामने प्रमुख था। इसलिये शिष्य रहकर भी वे उसे साध सकें तो उन्हें कोई आपत्ति न थी। अतः आचार्य रुघनाथजी के पक्ष को गलत समझ लेने पर भी उन्होंने उसी समय उनसे अपना सम्बन्ध नहीं तोड़ दिया। बल्कि उल्टा उन्होंने यह विचार किया कि आचार्य महाराज से मिलकर वे शास्त्रीय आलोचना करेंगे और सारे सम्प्रदाय को हर उपाय से शुद्ध मार्ग पर लानेका प्रयत्न करेंगे। उनके न मानने पर उनका क्या कर्तव्य होगा, इसका निश्चय वे कर चुके थे परन्तु इस निश्चय को वे तभी काममें लाना चाहते थे जब कि आचार्य महाराज को समझने का पूरा अवकाश दे देने पर भी वे सन्मार्ग पर न आवें। इस समय श्रीमद् भीखणजी ने जिस विनय और धीरज का परिचय दिया वह अवश्य ही उनकी मुमुक्षुता, आन्तरिक वैराग्य और धर्म भावना का द्योतक था।

श्रीमद् भीखणजी ने अपने साथ जो अन्य साधु थे उनको भी सारी बातें अच्छी तरह समझायीं। वास्तविक साधु आचार और विचार की बातें उनको बतलाईं। भीखणजी के विचारों को सत्य समझ सबने उनका अनुमोदन किया। चातुर्मास समाप्त होने पर संत भीखणजी ने अन्य साधुओं के साथ राजनगर से विहार किया। वे राजनगर से विहार कर सोजत की ओर

अग्रसर हुए। रास्ते में छोटे-छोटे गाँव पड़ते थे। इसलिये साधुओं के दल कर दिये। एक दलमें साधु वीरमाणजी थे। श्रीमद् भीखणजी ने वीरमाण जी को समझा दिया था कि यदि वे रुघनाथजी के पास पहले पहुँचे तो वहां इस विषय की कोई चर्चा न करें। क्योंकि यदि पहले ही बात सुनकर पक्ष-पात हो गया तो समझानेमें विशेष कठिनाई होगी। उन्होंने कहा—"मैं वहां पहुँच कर सब बातें विनय पूर्वक उनके सामने रखूँगा और उन्हें सत्य मार्ग पर लाने की चेष्टा करूँगा।"

घटना-चक्र से साधु वीरमाणजी ही पहिले सोजत पहुँचे। उस समय आचार्य रुघनाथजी वहीं थे। श्री वीरमाणजी ने वन्दना की। आचार्य रुघ-नाथजी ने पूछा—"श्रावकों की भ्रान्तियाँ दूर हुई या नहीं?" साधु वीरमाण जी ने उत्तर दिया—"श्रावकोंकि कोई शंका होती तब न दूर होती? उन्होंने तो सिद्धान्तों का सच्चा भेद पा लिया है। हमलोग आधाकर्मी आहार करते हैं। एक ही जगह से रोज-रोज गोचरी करते हैं। वस्त्र पात्रादि उपादानों के निश्चित परिमाण का उल्लंघन करते हैं। अभिभावकों की आज्ञा बिना ही दीक्षा दे डालते हैं, हर किसी को प्रव्रजित कर लेते हैं। इस तरह अनेक दोषों का हमलोग सेवन करते हैं और केवल सेवन ही नहीं, परन्तु उनको उचित भी ठह-राते हैं। श्रावक सत्य ही कहते हैं, उनकी शंकाएँ मिथ्या नहीं हैं।" यह सुनकर आचार्य रुघनाथजी स्तम्भित हो गये। उन्होंने कहा—"यह क्या कहते हो?" वीरमाणजी ने कहा—"मैं सत्य ही कहता हूँ। मैंने जो कहा वह तो नमूना है। पूरी बात तो भीखणजी के आनेसे ही मालूम होगी।" इस तरह धीरज न होने से वीरमाणजी ने सारी बात कह डाली। श्रीमद् भीखणजी इस घटना के बाद पहुँचे। आते ही उन्होंने आचार्य महाराज को वन्दना-नमस्कार किया। परन्तु उन्होंने हाथ न जोड़े और न वन्दना-नमस्कार स्वीकार किया। यह देख कर श्रीमद् भीखणजी समझ गये कि हो न हो

वीरभाणजी ने पहले ही सारी बात कह दी है। श्रीमद् भीखणजी ने इस उदासीनता का कारण पूछा, तब आचार्य महाराज ने उत्तर दिया—"तुम्हारे मनमें शंकाएँ पड़ गई हैं। तुम्हारा और हमारा दिल नहीं मिल सकता। आज से हमारा और तुम्हारा आहार भी एक साथ नहीं होगा।" श्रीमद् भीखणजी ने मन में विचार किया—"हममें और इनमें दोनों में ही समकित नहीं है। परन्तु अभी बहस करना निरर्थक है। शायद ये सोचते हों कि मैं हर हालत में इनसे अलग होना चाहता हूँ और इन्हें गुरु नहीं मानना चाहता। इसलिये उचित है कि मैं उनकी इस धारणा को दूर कर उनके हृदय में विश्वास उत्पन्न करूँ कि मेरे विचार ऐसे नहीं हैं। मुझे शिष्य रूप में रहना अभीष्ट है, बशर्ते कि सन्मार्ग के अनुसरण में कोई रुकावट न हो। यह सोच कर वे बोले—'यदि व्यर्थ ही मेरे मन में शंकायें पड़ गई हों तो उन्हें दूर कीजिए। मुझे प्रायश्चित द्वारा शुद्ध कर भीतर लीजिये।" इस तरह उन्होंने आचार्य महाराज की व्यर्थ आशंका को दूर कर सहभोजी बन वार्तालाप करने का शुभवसर प्राप्त किया।

इसके बाद शुभवसर देखकर श्रीमद् भीखणजी ने आचार्य महाराजके साथ विनम्रता पूर्वक आलोचना शुरु की। उनका कहना था—"हमलोगोंने आत्म-कल्याण के लिये ही घरबार छोड़ा है अतः टेक छोड़कर सच्चे मार्ग को ग्रहण करना चाहिए। हमें शास्त्रीय वचनों को प्रमाण मानकर मिथ्या मान्यतायें न रखनी चाहिये। पूजा-प्रशंसा तो कई बार मिल चुकी है, पर सच्चा मार्ग मिलना बहुत ही कठिन है। अतः सच्चे मार्गकी तुलनामें इन बातों को नगण्य समझना चाहिये। शुद्ध जैन मार्गको अंगीकार करने पर आप ही हमारे पूज्य रहेंगे। आप पुण्य-पाप का मेल मानते हैं। एक ही काममें पुण्य और पाप दोनों समझते हैं—यह ठीक नहीं है। अशुभ योगसे पापका बन्ध होता है और योगसे पुण्य का संचार होता है परन्तु ऐसा कौन सा योग है जिससे

एक ही साथ पुण्य और पाप दोनों का संचार होता हो ? अतः आप अपनी पकड़ को छोड़कर सच्ची बात को ग्रहण कीजिये। सूत्रों के वचनों पर श्रद्धा रखें। जिन-आज्ञा के बाहर कोई धर्म नहीं है। आभ्यन्तर आँखें खोल कर और जिन-प्रवचनों पर ध्यान देकर पकड़ी हुई टेक को छोड़ देना चाहिये। न शुद्ध श्रद्धा ही हमारे हाथ आई है, न शुद्ध आचार। हम लोगों ने आत्मा के निस्तार के लिये ही घर छोड़ा है। इसलिये आपको बार-बार निवेदन करता हूँ और अन्य कोई भावना नहीं है। सब को एक दिन परभव में जाना है। श्रद्धा का प्राप्त करना दुर्लभ है। जिनधर्म बिना आत्मा का कल्याण नहीं। अतः पक्षपात को छोड़ दें; सूत्रों की बात मानने पर आपही हमारे नाथ हैं।" परन्तु आचार्य रुघनाथजी पर श्रीमद् भीखणजी की इन बातों का कोई असर नही पड़ा। उलटे वे अधिक क्रुद्ध हो उठे। संत भीखणजी ने सोचा अब उतावल करने से काम नहीं होगा। जिद्द को दूर करने के लिये धीरज से काम लेना होगा। मौका देख कर फिर उन्होंने प्रार्थना की कि इस बार चातुर्मास एक साथ किया जाय जिससे कि सच्च-झूठका निर्णय किया जा सके। परन्तु आचार्य महाराज ऐसा करने के लिये राजी नहीं हुए।

इसके बाद श्रीमद् भीखणजी बगड़ी में फिर आचार्य महाराज से मिले और फिर चर्चा कर सच्चे मार्ग पर आने का अनुरोध किया। परन्तु उन्होंने एक न सुनी। अब भीखणजी को साफ-साफ मालूम होगया कि आचार्य समझाये नहीं समझ सकते। अतः उन्होंने सोचा कि अब मुझे अपनी ही चिन्ता करनी चाहिये। यह सोचकर स्वामीजी ने आचार्य महाराज से सम्बन्ध तोड़ दिया।



प्रभु के पथ पर

—सम्बन्ध विच्छेद के बाद—

इस प्रकार आचार्य रुघनाथजीसे अपना सम्बन्ध विच्छेद कर श्रीमद् भीखणजीने अपने लिये विपत्तियोंका पहाड़ खड़ा कर लिया। उस समय श्री रुघनाथजी एक प्रतिष्ठित आचार्य समझे जाते थे। उनके अनुयायी भी बहुत थे। श्रीमद् भीखणजीके अलग होते ही आचार्य रुघनाथजीने उनका घोर विरोध करना शुरू कर दिया। उन्हें भयभीत कर फिर से स्थानकमें लौट आनेको बाध्य करनेके लिए शहरमें सेवकके द्वारा ढिंढोरा पिटवा दिया गया—"कोई भी भीखणजीको उतरनेके लिये स्थान न दे। जो जान-सुन कर स्थान देगा, उसको सब संघ की आण-दुहाई है"। श्रीमद् भीखणजी इस विरोधसे तनिकभी विचलित न हुए। सिंहकी तरह अपने निश्चय पर डटे रहे। विचार किया—"यदि इस विपत्तिसे घबड़ा कर फिर स्थानकमें चला गया तो वापिस पुराने जालमें फँस जाऊँगा और पुन उससे निकलना सरल न होगा।" यह सोचकर भविष्य की कठिनाइयोंकी तनिक भी चिन्ता न करते हुए उन्होंने बगड़ी शहरसे विहार कर दिया। विहारकर जब वे बगड़ी शहरके बहिर्द्वारके समीप आये तो बहुत जोरसे आँधी चलने लगी। जोरकी हवा बहनेके समय विहार करना उचित न समझ वे पासकी जैतसिंहजी की छत्रियोंमें ठहरे।

जब आचार्य रुघनाथजीको यह मालूम हुआ तो वे अनेक लोगोंको साथ ले छत्रियों में आये और श्रीमद् भीखणजीसे जोर-शोरसे धर्म-चर्चा शुरू की। वे बोले— 'यह पंचम आरा है। इसमें इतनी कड़ाईसे साधुत्वका पालन सम्भव नहीं। तुम्हें जिद छोड़ वापिस हमारे साथ आ जाना चाहिये'। भीखणजीने जवाब दिया 'पंचम आरा अवश्य है परन्तु धर्म एक स्थाई वस्तु है। समयसे उसमें कोई परिवर्तन नहीं आता। इस आरेमें

भी धर्म उसी रूपमें पाला जा सकता है जिस रूपमें वह पूर्व आरोंमें पाला जाता रहा। समयके वहानेको सामने रखकर शिथिलाचारका पोषण नहीं किया जा सकता। यदि पूर्व कालमें शिथिलाचार बुरा और निन्द्य था तो अब भी वह वैसाही जघन्य है। हम तो जिनेश्वर देवकी आज्ञाको शिरोधार्य कर शुद्ध संयम—साधुत्वपालन करना चाहते हैं।" यह सुन आचार्य रुघनाथजीकी निराशाका ठिकाना न रहा। अव आशा का अन्तिम धागा भी टूट गया। श्रीमद् भीखणजी आचार्यके प्रिय, असाधारण विद्वान् और प्रतिभाशाली शिष्य थे। ऐसे साधुका संघमें होना एक वड़े गौरवकी वात थी। श्रीमद् भीखणजीके इस आशा-शून्य उत्तरको सुनकर आचार्य रुघनाथजीकी आँखोंमें आँसु वह निकले। यह देख साधु उदयभाणजी वोले :"आचार्य! आप एक टोलेके अधिनायक हैं। आपको ऐसा नहीं करना चाहिये"। आचार्य रुघनाथजीने कहा. "किसीका एक जाय उसे भी फिक्र होता है—यहाँ तो भला एक साथ पाँच जा रहे हैं"।

आचार्य रुघनाथजीके इस मोहको देखकर भी श्रीमद् भीखणजी अपने निश्चयसे विचलित न हुए। करीव ८ वर्षसे वे आचार्य रुघनाथजीके सघमें थे। इस कारणसे पारस्परिक प्रेम-भाव होना स्वाभाविक ही था। फिर भीखणजी तो अपने गुरुके विशेष स्नेह-भाजन रहे। यह सब होने पर भी वे अपने पथसे तिल मात्र भी डिगे नहीं। उन्होंने सोचा :"जिस दिन मैंने घर छोड़ा था उस दिन मेरी माताने भी स्नेह वश अनेक आँसू वहाये थे, परन्तु मैंने उस दिन उन आँसुओंकी कुछ भी परवाह न कर घरवार त्याग दिया तो अब इन आँसुओंकी कीमत ही क्या है? यदि मैं पुनः इनके साथ मिल गया तो मुझे परभवमें विशेष रोना पड़ेगा"। यह सोचकर सत भीखणजी दृढचित्त रहे।

—श्रेयस्‌की ओर—

अव आचार्य रुघनाथजीके क्रोधका पारावार न रहा। श्रीमद् भीखणजीकी इस दृढ कटिवद्धतासे एक वड़े टोलेके अधिनायक माने जाने वाले आचार्यके अभिमानको गहरा धक्का लगा। उन्हें क्रोध आना स्वाभाविक था। आवेशमें आकर श्रीमद्

भीखणजी से बोले 'अच्छा तो तू अब देखना, तेरे कहीं भी पर न जमने पायेंगे। आगे तू है और पीछे मैं हूँ।"

संत भीखणजीने आचार्य रुघनाथजीके इन क्रोध भरे वचनोंका बड़ी ही शान्तिसे जवाब दिया' "मैं तो परिषहके लिये तुला हुआ हूँ। इस तरह डराया नहीं डर सकता। यह जीवन तो क्षण भंगुर है। आखिर मनुष्य जीकर कितने काल जीता है।"

हमें यहाँ सर राधाकृष्णन्के निम्नलिखित शब्द याद पड़ जाते हैं—"दुःख जीवनका कोई अकस्मात् आगन्तुक साथी नहीं, बल्कि जीवनके केन्द्रमें उसकी स्थिति है। दुःख और क्लेश में ही समस्त महत्कार्य सिद्ध हुए हैं।

"जीवनका लक्ष्य सांसारिक सुख (प्रेयस्) नहीं बल्कि परम कल्याण (श्रेयस्) है। सुखका जीवन और जीवनका सुख दोनों एक चीज नहीं हैं। यदि दुःख हमें अपने जीवनके लक्ष्यके समीप पहुँचाता है तो वह भी उतना ही बड़ा सुख है जितना कि कोई सुखमय जीवन। तीव्र से तीव्र यन्त्रणा भी यदि अपने उद्देश्य की सिद्धिमें सहायक हो तो सुखपूर्वक स्वीकारकी जा सकती है।" जर्मन कवि और नाटककार गेटेने बड़े मार्मिक शब्दोंमें कहा है 'पर्वतकी चढ़ाईमें शिखर मनको खींचते हैं, रास्तेकी पैड़ियाँ नहीं।"

संत भीखणजीकी उस समयकी अन्तर्भावना पर विचार करें तो वे इसी रूपमें सोचते हुए दिखाई देंगे। निःसन्देह ही उन्होंने 'प्रेयस्' से 'श्रेयस्' को अधिक ऊँचा स्थान दिया था और कण्टकाकीर्ण मार्गको अपनानेमें इस 'श्रेयस्' का आकर्षण ही उन्हें खींच रहा था।

—बरलूमें : महत्त्व पूर्ण चर्चाएँ—

इसके पश्चात् भीखणजीने निर्भयताके साथ बगड़ीसे विहार कर दिया। आचार्य रुघनाथजीने भी उनके पीछे-पीछे विहार किया। बरलूमें फिर गहरी चर्चा हुई।

आचार्य रुघनाथजीने कहा—"यह पचम आरा है, दुपम काल है, पूरा साधुपना नहीं पल सकता"।

श्रीमद् भीखणजीने जवाब दियाः—"दुपम कालमें सम्यक् चारित्र पालन करनेके उद्यम में कमी आनेके बदले और अधिक बल और पुरुषार्थ आना चाहिये। भगवानने जो पचम आरेको दुपमकाल बतलाया है, उसका अर्थ यह नहीं है कि इस कालमें कोई सम्यक् रूपसे धर्मका पालन हो न कर सकेगा। पर उसका अर्थ यह है कि चारित्र निर्वाहमें नाना प्रकारकी शारीरिक और मानसिक कठिनाइयाँ रहेंगी, इसलिये चारित्र पालनके लिये बहुत अधिक पुरुषार्थकी आवश्यकता होगी। भगवानने आचाराग सूत्रमें साफ कहा है. – 'जो शिथिलाचारी और पुरुषार्थ हीन होंगे वे ही कहेंगे कि इस कालमें शुद्ध सयम नहीं पाला जा सकता—बालव संघयण हीन होनेसे पूरा आचार नहीं पाला जा सकता"। यह सुनकर आचार्य रुघनाथजीको महान् कष्ट हुआ, फिर भी बात सत्य होनेसे इसका प्रत्युत्तर नहीं दे सके।

फिर आचार्य रुघनाथजीने दूसरी चर्चा छेड़ी। उन्होंने कहा—"केवल दो घड़ी शुभ ध्यान करने और शुद्ध चारित्र पालनेसे ही केवलज्ञान प्राप्त हो सकता है। इस संघमें रहते हुए भी यह किया जा सकता है, अतः बाहर होनेकी आवश्यकता नहीं।"

सत भीखणजीने कहा—"साधु-जीवन केवल घड़ी दो घड़ी शुद्ध सयम पालनेके लिये नहीं है, परन्तु वह एक निरन्तर साधना है। चारित्रकी साधनामें, सच्चा साधु एक पल मात्र भी ढीला नहीं चल सकता। दो घड़ी शुभ ध्यान और चारित्रसे केवलज्ञान प्राप्त होनेकी बात अमुक अपेक्षासे है, वह सर्वत्र लागू नहीं हो सकती। यदि केवलज्ञान पाना इतना सरल हो, तब तो मैं भी श्वासोश्वास रोककर दो घडी तक शुभ ध्यान कर सकता हूँ। 'प्रभव' और 'शय्यभव'को केवलज्ञान प्राप्त नहीं हुआ, तब क्या उन्होंने दो घड़ी भी साधुपना नहीं पाला था? भगवान् महावीरके १४ हजार साधु शिष्योंमे केवल सात सौ ही केवली थे। आपके कथनानुसार तो उन्होंने दो घड़ीके लिये भी शुद्ध संयम नहीं पाला। भगवान महावीरने १२ वर्ष, १३ पक्ष तक मौन ध्यान किया परन्तु केवल ज्ञान तो उन्हें

इस दीर्घ तपस्याके बादही प्राप्त हुआ। क्या आप कह सकते हैं कि इस अवधिमें दो घड़ीके लिये भी उन्होंने शुभ ध्यान नहीं ध्याया ? अत दो घड़ीमें केवलज्ञान प्राप्त करनेकी बात अमुक अपेक्षासे है। अमुक अपेक्षासे केवल दो घड़ीमें केवलज्ञान प्राप्त हो सकता है इसलिये यह जरूरी नहीं कि केवल दो घड़ीका समय ही इसके लिये निर्धारित कर लिया जाय और शेष जीवनको शिथिलाचारमें बिता दिया जाय। साधुको जीवनके प्रत्येक पलमें जागरुक रहनेकी आवश्यकता है। उसके जीवनका प्रत्येक पल संयम और तपस्याकी निरन्तरतासे सजीव रहना चाहिये। खाते-पीते, उठते-बैठते, सोते जागते चलते–फिरते साधुके प्रत्येक कार्यमें जागृति चाहिये तभी उसकी आत्माका उद्धार होगा"। इस तरह अनेक प्रकारकी चर्चाएँ हुई परन्तु आचार्य रुघनाथजीके हृदय पर कोई असर न पड़ा।

आचार्य रुघनाथजीके जयमलजी नामक चाचा-गुरु थे। वे भी एक टोलेके नायक थे। वे प्रकृतिके बड़े ही सरल और भद्र थे। वे श्रीमद् भीखणजीके पास आये। श्रीमद् भीखणजीने उनको सब बातें समझाई। साधु जयमलजी श्रीमद् भीखणजीके सिद्धान्तोंकी सच्चाईसे प्रभावित हुए और उनका साथ देनेका निश्चय किया। यह बात जब आचार्य रुघनाथजीके कानों तक पहुँची तो उन्होंने जयमलजीको बहका दिया आप भीखणजीके साथ मिल जायेंगे तो आपका कोई अलग टोला न रहेगा। आपके साधु भीखणजीके साधु माने जायेंगे। इससे भीखणजी का काम बन जायगा परन्तु आपका कोई नाम नहीं रहेगा।" इस तरहकी बात सुन जयमलजीका विचार फिर गया। उन्होंने श्रीमद् भीखणजीके साथ मिलनेका विचार छोड़ दिया। अपनी असमर्थता प्रगट करते हुए उन्होंने साफ शब्दोंमें कहा–"भीखणजी! मैं तो गले तक डूब चुका हूँ। आप शुद्ध साधु–जीवनका पालन कीजिये हमारे लिये तो वह अशक्यही है"। इस तरह आचार्य रुघनाथजी नाना प्रकारकी बाधाएँ भीखणजीके मार्गमें उपस्थित करते थे परन्तु वे जरा भी विचलित होने वाले न थे।

—वीर-गोतम की जोड़ी—

अब सत भीखणजीने आत्मोद्धारके लिये पुनः दीक्षा लेनेका विचार किया और इसके लिये वे एकाग्रतासे तैयारी करने लगे। इस समय संत भीखणजीके साथ भारीमालजी नामके साधु और इनके पिता कृष्णोजी भी थे। ये दोनोंही सत भीखणजीके स्वहस्त दीक्षित साधु थे। कृष्णोजीकी प्रकृति बड़ो उग्र थी। वे साधु-जीवनके लिये अयोग्य थे। यह देखकर संत भीखणजी भारी-मालजीसे बोले: "तुम्हारे पिता साधु बननेके योग्य नहीं है। हम नई दीक्षा लेने का विचार करते हैं। जोरोंसे विरोध होनेकी सम्भावना है। आहार-पानीकी क-ठिनाई पग-पग पर होगी। इन कठिनाइयोंको झेलनेकी हिम्मत कृष्णोजीमें नहीं मालूम देती। साधु जीवनमें वाणीके सयमकी भी विशेष आवश्यकता है। इसका कृष्णोजीमें अभाव है। अनेक कटु वचनोंको सहना होगा। तुम्हारी क्या इच्छा है—मेरे साथ रहना चाहते हो या अपने पिता के साथ?"

साधु भारीमालजीने दश वर्षकी अवस्थामें दीक्षा ली थी। चार वर्ष तक वे आचार्य रुघनाथजीके टोलेमें थे। इस समय उनकी अवस्था केवल १४ वर्षकी थी। बालक साधु भारीमालजीने दृढताके साथ कहा: "मैं आपके साथ ही रहूँगा। मुझे पितासे कोई सम्पर्क नहीं है। मैं तो शुद्ध साधुत्व पालनेका इच्छुक हूँ, मुझे आपका विश्वास है। मैं आपके साथही रहूँगा"। फिर भीखणजीने कृष्णोजी से कहा: "हमारा पुनः दीक्षा लेनेका विचार है। चारित्र पालन बहुत मुश्किल है, अतः हम आपको साथ नहीं रख सकते"। कृष्णोजीने कहा—"यदि मुझे साथ नहीं रखते तो मेरे पुत्रको भी मुझे सौंप दें। उसको आप नहीं ले जा सकते"। भीखणजी बोले: "यह आपका पुत्र रहा। मैं मना नहीं करता। आप इसे अपने साथ ले जा सकते हैं। मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है"। तब कृष्णोजी साधु भारीमालजीको लेकर दूसरी जगह चले गये।

साधु भारीमालजी पिताके इस कार्यसे बड़े असन्तुष्ट हुए। उन्होंने इस बातकी प्रतिज्ञा कर ली कि जीवन-पर्यन्त कृष्णोजीके हाथका आहार पानी नहीं लूँगा। इस तरह अनशन करते हुए दो दिन निकल गये। भारीमालजी पर्वतकी तरह दृढ़ रहे। तब कृष्णोजी भी हतोत्साह हो गये और साधु भारीमालजीको फिर संत भीखणजीके पास लाकर छोड़ दिया और बोलेः "यह आप ही से राजी है। मुझे तो यह जरा भी नहीं चाहता। इसको आहार पानी लाकर दीजिये जिससे यह भोजन करे। इसका पूरा यत्न रखिएगा। और आप नई दीक्षा लें उसके पहिले मेरा भी कहीं ठिकाना लगा दें"। यह सुनकर संत भीखणजीने कृष्णोजीको आचार्य जयमलजीके पास भेज दिया।

बालक साधु भारीमालजी एक बड़ी कड़ी आँचसे निकले। संत भीखणजी वैसे ही मनुष्योंके बड़े अच्छे पारखी थे। एक जौहरीकी तरह उन्हें मनुष्योंकी परख थी। इस कसौटी पर खरे उतरनेके बाद तो साधु भारीमालजीके प्रति उनका आकर्षण और भी अधिक हो गया। उन्होंने अपने हृदयमें समझ लिया कि यह बालक कितने मूल्यवान सत्त्वका बना हुआ है। धर्म पर प्राण न्योछावर कर देनेवाले साधुओंकी ही उन्हें जरूरत थी और साधु भारीमालजीके रूपमें उन्हें एक ऐसे ही दृढ़-चित्त शिष्यका संयोग मिला था। संत भीखणजीने अपने कुशल हाथोंसे इस होनहार बालकको घड़कर किस तरह महान् बनाया और उसके भाग्यको किस तरह चमकाया यह आगे जाकर पाठकोंको मालूम होगा।

—तेरापन्थी नामकरण का इतिहास—

विहार करते-करते संत भीखणजी जोधपुर पहुँचे। साधु टोकरजी, हरनाथजी, भारीमालजी और वीरभाणजीने उनके साथ ही आचार्य रुघनाथजीसे सम्बन्ध विच्छेद कर दिया था। वे भी विहारमें साथ थे। थोड़ेही समयमें और ८ साधु उनके साथ आ मिले और इस तरह साधुओंकी कुल संख्या १३ हो गई।

इस समय तक १३ श्रावक भी उनके श्रद्धालु हो गए। १३ साधुओंमें ५ आचार्य रुघनाथजीकी सम्प्रदायके, ६ जयमलजी और २ अन्य सम्प्रदायके थे।

उस समय साधु नियत स्थानोंमें रहने लगे थे। इन नियत स्थानोंको 'स्थानक' कहा जाता था और वे साधुओंके ठहरनेके निमित ही वनाए हुए होते थे। शाक्य मुनि गौतम बुद्ध और भगवान महावीर समकालीन होने पर भी जहाँ बौद्ध मुनि विहारोंमें उतरते वहाँ जैन मुनियोंके लिए याचित स्थानोंमें ठहरने का ही विधान था। नियत स्थानोंमें उतरना जैन धर्ममें अनाचार—विपरीत आ-चरण माना गया है और आधाकर्मी-दोषका सेवन कहा गया है। अतः सन्त भीखणजी इन 'स्थानकों' में उतरनेके घोर विरोधी थे। आचार्य रुघनाथजी और उनके विचारोंमें एक वड़ा अन्तर यह भी था। चूँकि सत भीखणजी और उनके सगी-साथी साधुओंने स्थानकों का वहिष्कार कर दिया था अतः उनके श्रद्धालु श्रावकोंने भी सामायिक आदि धर्म-क्रियाओंके लिये स्थानक जान छोड़ दिया।

एक दिन बाजारकी खुली दुकानमें कई श्रावक सामायिक और पोषध कर रहे थे। उस दिन उस समयके जोधपुर के दिवान फतेहचन्दजी सिघी का बाजार होकर निकलना हुआ। वाजारके चौहट्टेमें श्रावकोंको सामायिक पौषध करते देख उन्हें आश्चर्य हुआ। कौतुहल वश उन्होंने श्रावकोंसे कारण पूछा। प्रश्न करने पर श्रावकोंने आचार्य रुघनाथजीसे संत भीखणजीके अलग होनेकीसारी वात कह सुनाई और जैन शास्त्रोंकी दृष्टिसे अपने निमित वनाए मकानोंमें उतरना साधुओंके लिए कितना दोष-पूर्ण और आचार-विरुद्ध है यह भी वताया।

वादमें दिवान साहबने पूछा: "संत भीखणजीके मतमें कितने साधु हैं और कितने श्रावक ?" श्रावकोंने उत्तर देते हुए वतलाया—"१३ साधु हैं और १३ ही श्रावक"। यह सुनकर दिवान साहव बोले: "अच्छा सयोग है—

'तेरा' (तेरह) ही साधु हैं और 'तेरा (तेरह) ही श्रावक । सिंघीजीके पासही एक सेवक जातिका कवि खड़ा था। वह यह सब वार्तालाप बड़ी दिलचस्पीसे सुन रहा था। उसने तुरन्तही एक दोहा बना सुनाया जिसमें संत भीखणजीके मत को १३ साधु व १३ श्रावकोंके विचित्र संयोग के कारण उसने "तेरापन्थी" कहकर सम्बोधित किया।

"साध साधरो गिलो करे
ते तो आप-आपरो मत
सुणज्यो रे शहर रा लोकां
ए "तेरापन्थी" तंत"

उस सेवक कविके मुखसे "तेरापन्थी" नामकरण सुनकर संत भीखणजीके विरोधी लोगोंने इस शब्दको मजाकके काममें लेना शुरू कर दिया और इस अल्प संख्यक मतको उड़ानेके लिये उसे "तेरापन्थी" कहकर सम्बोधित करने लगे।

सारी बात संत भीखणजीके कानोंमें भी पड़ी। कवि द्वारा आकस्मिक व्यवहृत "तेरापन्थी' शब्द उनको बड़ा अर्थ गौरव पूर्ण मालूम दिया। उनकी अन्तर विचार धारा की सारी अभिव्यक्ति उन्हें इसी एक शब्द में गर्भित मालूम दी। अपनी आश्चर्यकारी प्रत्युत्पन्न बुद्धिका सहारा ले उन्होंने इस शब्दकी बड़ी सुन्दर व्याख्या की और अपने मतवादके व्यक्तिकरणके लिये इसी अर्थ सूचक शब्दको सदाके लिए अपना लिया। मारवाड़ीमें १३ संख्या "तेरा' कही जाती है और तेरा' इस शब्दका अर्थ तुम्हारा भी होता है। इन दोनों अर्थोंको सामने रखकर संत भीखणजीने "तेरापन्थी" शब्दका अर्थ-स्पष्टीकरण इस प्रकार किया —

"हे प्रभु! तेरा ही पन्थ हमें पसन्द आ[illegible] हम तेरापन्थी हैं।

तेरे पन्थमें पांच महाव्रत, पांच समिति[illegible] बातें हैं, हम इन तेरह बातोंको पूरी तरह मानते हैं [illegible] तेरापन्थी हैं।

जिस मार्गमें गुणोंको स्थान है—वेषको नहीं, जिसमें जीव चेतन पदार्थ और अजीव अचेतन पदार्थ अलग-अलग माने गये हैं, जिसमें पुण्यको शुभ कर्म और पापको अशुभ कर्म माना गया है, जिसमें आश्रवको कर्म ग्रहण और संवरको कर्म निरोधका हेतु माना गया है, जिसमें निर्जराको कर्म क्षयका हेतु और बन्धको जीव और कर्मका परस्पर एकावगाह होना तथा मोक्षको सम्पूर्ण सुख माना गया है–वह तेरापन्थ है। जो व्रत और अव्रत, सावद्य और निरवद्यको अलग-अलग बतलाया हुआ, तेरी ही आज्ञाको शिरोधार्य मान कर चलता है, वह तेरापन्थ नहीं, तो किसका पन्थ है।" इस तरह संत भीखणजीने 'तेरापन्थी' शब्दका एक अनुपम अर्थ लगा दिया और उनके अनुयायी 'श्री जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी' कहलाने लगे।

नव प्रव्रज्या और प्रथम चातुर्मास

अब तेरह ही साधु नव दीक्षा लेनेकी तैयारी करने लगे। परस्पर सैद्धान्तिक चर्चाएँ कीं। शास्त्रोंका अच्छी तरहसे मनन किया। परन्तु चतुर्मास निकट आ जानेसे कई विषयों पर पूरा विचार न हो सका। इसलिए संत भीखणजीने कहा–"चौमासा समाप्त हो जाने पर फिर चर्चा करेंगे और परस्पर श्रद्धा और आचार मिलने पर ही सम्मिलित भोजन करेंगे"। इस तरह कह संत भीखणजीने साधुओंके चौमासे निर्धारित कर दिये और आज्ञा दी-"आषाढ सुदी पूनमके दिन सर्व साधु नई दीक्षा लें"।

इसके बाद संत भीखणजीने मारवाड़से मेवाड़की ओर प्रस्थान किया और केलवे पधारे। वहाँ सम्वत् १८१७, मिती आषाढ सुदी १५ के दिन अरिहन्त भगवानको नमस्कार कर, अठारह पापोंका त्याग करते हुए सर्व सिद्धोंकी साक्षीसे नव दीक्षा ली। अन्य साधुओंने भी उनका पदानुसरण किया।

श्रीमद् आचार्य भीखणजीने केलवेमें ही प्रथम चौमासा किया। इस चौमासेमें हरनाथजी, टोकरजी और भारीमालजी ये तीन संत भीखणजीके साथ थे।

खाड़े कि धार पैनी थी, पर जीवन और मरण को पर्याय—अवस्थान्तर मात्र समझने वाले के लिए उस पर चलना जरा भी कठिन नहीं था। वे गांवोंगांव धर्मोपदेश देते हुए विचरने लगे। यह देख कर आचार्य रुघनाथजी के क्रोध का पारा और भी गर्म हो गया। उन्होंने लोगों को अनेक तरह से बहकाना शुरु किया। उनके बहकावे में आकर लोग स्वामीजी को जमाली और गोशाले की उपमाएं देने लगे। कोई कहता– "ये निन्हव हैं इनकी संगत मत करना।" कोई कहता—"इन्होंने देव गुरु धर्म को उठा दिया है। ये जीव बचाने में अठारह पाप बतलाते हैं।" इस तरह चारों ओर से कटु वचनों के प्रहार होने लगे। कोई प्रश्न करने के बहाने और कोई दर्शन करने के बहाने आकर उनको खरी–खोटी सुना जाता। परन्तु आचार्य भीखणजी क्षमा–शूर थे। वे इन प्रहारों को फूलों की बौछार की तरह झेलते। द्वेष उन्हें छूता भी नहीं। उनके भावों में अत्यन्त मधुरता रहती। समभाव पूर्ण सहनशीलता के वे ज्वलन्त उदाहरण थे।

श्रीमद् आचार्य भीखणजी के कष्टों की इतने ही तक सीमा न थी। उन्हें केवल तीर के समान तीखे वचनों को ही नहीं झेलना पड़ा, पर अन्य अनेक प्रकार के कष्ट भी उन्हें उठाने पड़े। आचार्य रुघनाथजी ने लोगों को यहाँ तक बहका दिया था कि उन्हें ठहरने के लिए कोई स्थान तक नहीं देता। वे जहां जाते वहां एक विरोध का दावानल-सा सुलगता दिखाई देता और अनोखे अनुभव होते। एक बार वे बिलोड़े पधारे। उनके पहुँचने की खबर मिलते ही वहां के लोगों ने बन्दोबस्त किया—"जो भीखणजी को १ रोटी देगा उसे ११ सामायिक दण्ड की आवेगी।' एक दिन किसी के घर गोचरी पधारे तो उस घरकी बाई बोली–' यदि मैं आपको रोटी दूं तो मेरी ननद की, जो स्थानक में बैठी सामायिक कर रही है सामायिक गल जाय —नष्ट हो जाय। इस तरह जनता में नाना प्रकार के भ्रम फैला कर आचार्य

को कष्ट नही पहुँचाना चाहिए'—इस उपदेश द्वारा उस सर्प को भी मन्त्र-मुग्ध कर दिया। आत्मिक बल द्वारा किस तरह विजय प्राप्त की जा सकती है और मनोरथ सफल किये जा सकते हैं, उसका एक नमूना है। 'अभय से ही अभय प्राप्त होता है' यह इस घटना से स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है। वास्तव में अहिंसा में हृदय परिवर्तन की अजोड़ शक्ति होती है। स्वामीजी में यह शक्ति भर पूर थी।

चौमासे के बाद तेरह संत एक जगह एकत्रित हुए। बख्तरामजी और गुलाब जी नामक दो साधुओं की मान्यता भिन्न हो गई इसलिए वे अलग कर दिये गये। वीरभाणजी कई वर्षों तक आचार्य भीखणजी के पास रहे। परन्तु वे बड़े अविनयी थे, अतः बाद में उन्हें भी दूर कर दिया गया। लिखमीचन्दजी, भारीमालजी, रूप-चन्दजी और प्रेमजी साधु भी बाद में निकल गये। इस तरह आदि के तेरह साधुओं में से केवल आचार्य भीखणजी, थिरपालजी, फतेहचन्दजी, टोकरजी, हरनाथजी और भारीमालजी ये छः सन्त जीवन-पर्यन्त एक साथ रहे।

इस प्रकार शुद्ध जीवन यापन के लिए श्रीमद् आचार्य भीखणजी ने आगे कदम बढाया परन्तु सामने का मार्ग सरल न था। रास्ते में विपत्तियों के पहाड़ के पहाड़ खड़े थे। पर वे इन सब विघ्न बाधाओं से विचलित होने वाले न थे। वे एक ऐसे चट्टान की तरह दृढ खड़े रहे जिस पर हजारों-लाखों प्रहारों का भी कोई असर नही पड़ता। उन्हें तो केवल आत्म-साक्षात्कार की ही प्यास थी। जिन-शासन के उद्धार के लिए वे अपने प्राणों तक की होड़—बाजी लगा चुके थे। पूज्य जयाचार्य ने ठीक ही कहा है :—

भारी गुण भिक्खु तणा कह्या कठा लग जाय,
मरणधार शुद्ध मग लियो कमिय न राखी काय।

अर्थात्—"आचार्य भीखणजी के गुणों का कहाँ तक वर्णन किया जाय? उन्होंने जिन-शासन के उद्धार कार्य में कोई कमी न रखी और प्राण दे देने तक का निश्चय करके ही उन्होंने यह काम उठाया था।"

खांड़े कि धार पैनी थी, पर जीवन और मरण को पर्याय—अवस्थान्तर मात्र समझने वाले के लिए उस पर चलना जरा भी कठिन नहीं था। वे गाँवोंगाँव धर्मोपदेश देते हुए विचरने लगे। यह देख कर आचार्य रुघनाथजी के क्रोध का पारा और भी गर्म हो गया। उन्होंने लोगों को अनेक तरह से बहकाना शुरु किया। उनके बहकावे में आकर लोग स्वामीजी को जमाली और गोशाले की उपमाएं देने लगे। कोई कहता– 'ये निन्हव हैं इनकी संगत मत करना।' कोई कहता—"इनने देव गुरु धर्म को उठा दिया है। ये जीव बचाने में अठारह पाप बतलाते हैं।" इस तरह चारों ओर से कटु वचनों के प्रहार होने लगे। कोई प्रश्न करने के बहाने और कोई दर्शन करने के बहाने आकर उनको खरी-खोटी सुना जाता। परन्तु आचार्य भीखणजी क्षमा-शूर थे। वे इन प्रहारों को फूलों की बौछार की तरह झेलते। द्वेष उन्हें छूता भी नहीं। उनके भावों में अत्यन्त मधुरता रहती। समभाव पूर्ण सहनशीलता के वे ज्वलन्त उदाहरण थे।

श्रीमद् आचार्य भीखणजी के कष्टों की इतने ही तक सीमा न थी। उन्हें केवल तीर के समान तीखे वचनों को ही नहीं झेलना पड़ा, पर अन्य अनेक प्रकार के कष्ट भी उन्हें उठाने पड़े। आचार्य रुघनाथजी ने लोगों को यहाँ तक बहका दिया था कि उन्हें ठहरने के लिए कोई स्थान तक नहीं देता। वे जहाँ जाते वहीं एक विरोध का दावानल-सा सुलगता दिखाई देता और अनोखे अनुभव होते। एक बार वे बिलोड़े पधारे। उनके पहुँचने की खबर मिलते ही वहाँ के लोगों ने बन्दोबस्त किया—"जो भीखणजी को १ रोटी देगा उसे ११ सामायिक दण्ड की आवेगी।' एक दिन किसी के घर गोचरी पधारे तो उस घरकी बाई बोली–''यदि मैं आपको रोटी दूँ तो मेरी ननद की, जो स्थानक में बैठी सामायिक कर रही है सामायिक गल जाय—नष्ट हो जाय। इस तरह जनता में नाना प्रकार के भ्रम फैला कर आचार्य भीखणजी को विचलित करने की चेष्टा की गई। परन्तु इन विघ्न बाधाओंसे वे फौलादी पुरुष क्या घबड़ाते और क्या मार्ग च्युत होते! मेघकी

काली घटायें सूर्यको आच्छादित कर सकती हैं, पर उसकी हस्तीको नहीं मिटा सकतीं। आचार्य रुघनाथजीकी हरकतें भी मरणांतक कष्ट पहुँचा सकती थीं परन्तु आचार्य जैसे वीर पुरुषको रुलानेकी ताकत उनमें क्या होती ?

"जो लोग सच्चे धार्मिक हैं, उनके अन्दर एक ऐसी स्थिरता होती है जो सपत् विपत्से विचलित नहीं होती। आध्यात्मिक जीवनका सार ही यह है कि आत्मा इतनी महान् है कि भयानकसे भयानक विपत्ति भी उसे डिगा नहीं सकती। जो आत्मवान् हैं वे दुनियाके ऊपर रहते हैं, दुनियाको उन्होंने जीत लिया है। उन पर गोलियाँ बरस रही हों तो भी वे सच बोल सकते हैं, उनकी बोटी-बोटी काटी जाय तो भी प्रतिशोधकी भावना उनके हृदयमें आग नहीं लगा सकती। उनकी दृष्टि विश्व व्यापिनी होती है। इससे किसी सांसारिक आशक्ति या स्वार्थमें रत होना वे मूर्खता और व्यर्थता समझते हैं। बलिदान जो कीमतका विचार नहीं करता, आत्मोत्सर्ग जो बदलेमें कोई चीज नहीं चाहता, वही उनका नित्य जीवन होता है।" आचार्य भीखणजीके सम्बन्धमें ये विचार सम्पूर्ण रूपसे लागू पड़ते हैं।

उन तूफानी दिनोंका थोड़ा सा वर्णन आचार्य भीखणजीने अपने परम शिष्य हेमराजजी स्वामीसे किया था। वह कितना हृदय-द्रावक है, यह पाठक पढ़कर ही अनुभव कर सकेंगे:

'हम लोग जब रुघनाथजीसे अलग हुए तबसे पाँच वर्ष करीब तक तो घी चुपड़े की तो बातही क्या रूखा-सूखा आहार भी पूरा नहीं मिलता था। कपड़ेका तो यह हाल था कि कभी ११) रुपयेकी कीमतकी बासती (रेजी) मिल जाती तब भारीमाल अर्ज करता कि आप इसकी पछेवड़ी बना लीजिये। मैं कहता—'इसकी पछेवड़ी नहीं, चोलपट्टे बनाओ—एक तुम्हारे लिये और एक हमारे लिये।' जो कुछ आहार-पानी मिलता उसे लेकर सब साधु जंगलमें चले जाते। वहाँ आहार तो वृक्षों की छायामें रख देते और फिर सब साधु सूर्यके कड़कड़ाते तापमें आतापना लेते। शामको वापिस गाँवमें आते। ऐसा कष्ट सहन करते और कर्म काटते।"

इस तरह नाना प्रकारके कष्ट एक दिन नहीं, दो दिन नहीं, परन्तु लगातार वर्षों तक आचार्य भीखणजी और उनके साथी साधुओंको सहने पड़े थे। परन्तु उन्होंने उनके सामने कभी मस्तक नहीं झुकाया। एक वीर व्रती की तरह विपदाओंसे लड़ते और दुःसह कष्टोंको समभाव पूर्वक सहन करते, एक सच्चे साधुका जीवन बिताते जाते थे। भगवान महावीरके निम्नलिखित प्रवचन उनके जीवनके सूत्र बन चुके थे।

खुहं पिवासं दुस्सिज्जं, सीउण्हं अरई भयं
अहिआसे अव्वहिओ, देह दुक्खं महाफलं

अर्थात्— 'क्षुधा, तृष्णा ताप, ठण्ड, अरुचिकर प्रसंग व भयके प्रसंगोंको मुमुक्षु पुरुष अव्याकुल चित्तसे सहन करता है और जानता है कि धर्मके लिये देह दुःख महान् फलका हेतु होता है।"

अह णं वयमावन्नं, फासा उच्चावया फुसे
न तेसु विणिहण्णेज्जा, वाएण व महागिरी

अर्थात्—"जिस तरह महागिरि वायुके झोकेसे डोलायमान नहीं होता उसी तरह व्रतधारी पुरुष सम-विषम, अनुकूल-प्रतिकूल परिषहों—कष्टों के पड़ने पर धर्म च्युत नहीं होता।"

जे उ संगामे कालंमि नाया सूरपुरंगमा
णो ते पिट्ठमुवेहिंति, किं परं मरणं सिया

अर्थात्—"जो विख्यात शूरपुंगव होते हैं वे संग्रामके समय भविष्यकी चिंता नहीं करते। वे समझते हैं कि मरणसे भिन्न दूसरा क्या हो सकता है?



४

प्रचार कार्य -

—मौन साधक—

श्रमण भगवान महावीरने सच्चे धर्म पर श्रद्धा होना महा दुर्लभ वतलाया है। वर्षोंसे आते हुए सस्कार और विचार-धारा को हटा नवीन और शुद्ध विचार धाराको जनताके जीवनमें उतारना कोई सरल कार्य नहीं होता और खास कर उस समयमें जब कि लोगोंमें हद दर्जेकी जड़ता जड़ जमाए हुए हो और विचार शीलताके स्थानमें केवल अधभक्ति और स्थितिपालकता ही काम कर रही हो। आचार्य भीखणजीका जमाना ऐसा ही था। उस समयके लोगोंकी अन्ध-श्रद्धा, दाम्भिकता और ज्ञानहीनता को देख कर आचार्य भीखणजीने विचार किया: "लोग जंन–धर्म से कोसों दूर पड़े हैं। जैन आचार और विचारका पूर्ण अभाव है। अधिकाश लोग गतानुगतिक हैं और सत्यासत्यका निर्णय अपनी विवेक वुद्धिसे न कर अर्सेसे चली आती विचार परम्परासे करते हैं। मूल जैन सस्कृति और आचार-विचारको भूल वैठे हैं। ऐसी हालतमें धर्म-प्रचारका कोई रास्ता नहीं दिखाई देता और उसके लिए परिश्रम करना केवल समय गमाना है। इस कठिन मार्गमें साधु-साध्वी या श्रावक-श्राविकाओं का होना मुश्किल है। अतः धर्म प्रचारकी ओर ध्यान न देकर आत्मोन्नति में ही संतोष करना चाहिये।" ऐसा विचार कर वे सर्वतोभाव आत्म—कल्याणमें लग गये। जन-कल्याणसे दृष्टि हटा स्व-कल्याणको ही अपनी साधना का केन्द्र वना लिया और उस आत्म-साधना में वे कितने उत्कट रूपसे लगे इसका वर्णन कुछ ऊपरमे आया है। उन्होंने सतों के साथ एकान्तर उपवास करना शुरु किया और चौविहार उपवासमें कड़ी धूपमें आतापना लेते। यह लोमहर्षक तपस्या दीर्घ काल तक चली। आचार्य

भीखणजीने एकबार हेम ऋषिसे कहा था" हम कब जानते थे कि हमारे सिद्धान्तों को लोग स्वीकार करेंगे साधु बनेंगे या श्रावक-श्राविकाएँ होंगी। हम लोगोंने तो सिर्फ अपने ही आत्म-कल्याणकी विचारी थी। इसी प्रकार तपस्या करते-करते जीवन यात्रा समाप्त करनेकी धारा थी।"

इस कठोर तपश्चर्यासे साधुओंके शरीर अस्थिपंजर हो गए। परन्तु जीवन-शुद्धिका यह यज्ञ परोक्ष रूपसे जीवनकी अमरता-बेलीको हरा-भरा कर रहा था। आचार्य भीखणजी और संतोंकी यह कंपित करनेवाली तपस्या मानो वही दुर्जय युद्ध था जिसका वर्णन उत्तराध्ययन सूत्रकी निम्न गाथामें किया गया है

जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं एस से परमो जओ॥
अप्पाणमेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झओ।
अप्पाणमेव अप्पाणं जइत्ता सुहमेहए॥

आचार्य भीखणजी की इस लोमहर्षक तपस्याका प्रभाव धीरे धीरे जनता पर पड़ता जाता था। अब लोगोंने समझा कि जो शुद्ध जीवन-यापनके लिए अपने प्राणों तक को अपनी हथेलीमें रखता है वह एक कितना बड़ा त्यागी और महान् पुरुष है। आचार्य भीखणजीकी निर्भीक दृढ़ता उनका असीम त्यागभाव और उग्र तपस्या लोगों की सहानुभूति उनकी ओर खींचने लगी। भोजन और पानी की कठिनाइयाँ उपस्थित कर जो आचार्य भीखणजीको डिगाना चाहते थे उनको उन्होंने यह पदार्थ-पाठ सिखाया कि भूख और प्यास की कठिनाइयोंसे वे डिगने वाले नहीं हैं। इनकी वे जरा भी परवाह नहीं करते। खाने-पीनेकी चीजों का तो वे और उनके साधु स्वेच्छा पूर्वक त्याग कर सकते हैं। उनका जीवन खाने-पीने के सुखके लिये नहीं है, परन्तु संयमी जीवनकी कठिनाइयोंको सहनेके लिये है। आचार्य भीखणजीकी इस तपस्यासे लोगोंमें श्रद्धा जागी। लोगोंने सोचा कम से कम उनकी बात तो सुननी चाहिये। इस विचारसे लोग उनके पास जाने लगे। जो

पूछते उन्हें आचार्य भीखणजी जैन सिद्धान्तका वास्तविक स्वरूप बतलाते। आज्ञा किसमें है और अनाज्ञा किसमें है, व्रत क्या है और अव्रत क्या है, इसका विश्लेषण करते। लोग उनके सिद्धान्तमें सत्य बात देख कर प्रभावित होते, पर पकड़ी हुई बातको छोड़ नहीं सकते। इस तरह कुछ विचार शील व्यक्तियोंने आचार्य भीखणजीके वचनामृत से शुद्ध श्रद्धाको प्राप्त कर धर्मके सच्चे स्वरूपको पहचाना। हम ऊपर ही कह आये हैं कि आचार्य महाराजका ध्येय कुछ और ही हो चुका था और इसी कारण से वे लोगों पर जी लगा कर परिश्रम भी नहीं करते थे।

—उपदेशक आचार्य—

शाक्य मुनि गौतम बुद्ध को बोधि प्राप्त हुई तो उन्हें लगा कि जगत् के सुखैषी लोक उनके मार्ग को नहीं सुनेंगे और उसका अनुसरण नहीं करेंगे। अतः एकान्त में मौन धारण कर रहना ही उचित होगा। उस समय ब्रह्मदेव उनके समक्ष उपस्थित हो, हाथ जोड़कर बोले—"हे बुद्ध गुरु! अपने अमृत तुल्य धर्म का लोकों को उपदेश दें। इस जगत् में ऐसे अनेक जीव हैं, जिनके ज्ञान पर अज्ञान का पर्दा नहीं पड़ा है। केवल आपके धर्म वाक्य कान में न पड़ने से उन्हें भारी हानि हो रही है। यदि आप उपदेश करेंगे तो उसके रहस्य को जानने वाले अनेक लोग इस जगत् में मिलेंगे। पर्वत शिखर पर रह कर जैसे नीचे प्रदेश में लोक की तरफ देखते हैं, उसी तरह प्रज्ञा के शिखर पर चढ़ आप इस जन्म-जरा आदिक दुःख से पीड़ित लोगों की तरफ निर्भय रूप से दृष्टि-पात करें। हे शूरवीर! मार के साथ युद्ध कर आपने विजय प्राप्त की! हे लोक नायक! आप सर्व ऋण से मुक्त हुए हैं। अब लोक में फिर-फिर कर आप अपने धर्म का प्रचार करें। आपके धर्म को समझने वाले अनेक लोक आपको मिलेंगे।"

श्रीमद् आचार्य भीखणजी के जीवन में भी ऐसी ही घटना घटी, जिसने उनके जीवन के रुख को बदल दिया और उन्हें मौन-साधक से उपदेशक आचार्य

भीखणजीने एकबार हँस करके कहा था " हम कब जानते थे कि हमारे सिद्धान्तों को लोग स्वीकार करेंगे साधु बनेंगे या श्रावक-श्राविकाएँ होंगी। हम लोगोंने तो सिर्फ अपने ही आत्म-कल्याणकी विचारी थी। इसी प्रकार तपस्या करते-करते जीवन यात्रा समाप्त करनेकी आशा थी।"

इस कठोर तपश्चर्यासे साधुओंके शरीर अस्थिपंजर हो गए। परन्तु जीवन-शुद्धिका यह यज्ञ परोक्ष रूपसे जीवनकी अमरता-बेलीको हरा-भरा कर रहा था। आचार्य भीखणजी और संतोंकी यह कंपित करनेवाली तपस्या मानो वही दुर्जय युद्ध था जिसका वर्णन उत्तराध्ययन सूत्रकी निम्न गाथामें किया गया है

> जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे।
> एगं जिणेज्ज अप्पाणं एस से परमो जओ॥
> अप्पाणमेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झओ।
> अप्पाणमेव अप्पाणं जइत्ता सुहमेहए॥

आचार्य भीखणजी की इस रोमहर्षक तपस्याका प्रभाव धीरे धीरे जनता पर पड़ता जाता था। अब लोगोंने समझा कि जो शुद्ध जीवन-यापनके लिए अपने प्राणों तक को अपनी हथेलीमें रखता है वह एक कितना बड़ा त्यागी और महान् पुरुष है। आचार्य भीखणजीकी निर्भीक दृढ़ता उनका असीम त्यागभाव और उग्र तपस्या लोगों की सहानुभूति उनकी ओर खींचने लगी। भोजन और पानी की कठिनाइयाँ उपस्थित कर जो आचार्य भीखणजीको डिगाना चाहते थे उनको उन्होंने यह पदार्थ-पाठ सिखाया कि भूख और प्यास की कठिनाइयोंसे वे डिगने वाले नहीं हैं। इनकी वे जरा भी परवाह नहीं करते। खाने-पीनेकी चीजों का तो वे और उनके साधु स्वेच्छा पूर्वक त्याग कर सकते हैं। उनका जीवन खाने-पीने के सुखके लिये नहीं है, परन्तु संयमी जीवनकी कठिनाइयोंको सहनेके लिये है। आचार्य भीखणजीकी इस तपस्यासे लोगोंमें श्रद्धा जागी। लोगोंने सोचा कम से कम उनकी बात तो सुननी चाहिये। इस विचारसे लोग उनके पास जाने लगे। जो

पूछते उन्हें आचार्य भीखणजी जैन सिद्धान्तका वास्तविक स्वरूप बतलाते। आज्ञा किसमें है और अनाज्ञा किसमें है, व्रत क्या है और अव्रत क्या है, इसका विश्लेषण करते। लोग उनके सिद्धान्तमें सत्य बात देख कर प्रभावित होते, पर पकड़ी हुई बातको छोड़ नहीं सकते। इस तरह कुछ विचार शील व्यक्तियोंने आचार्य भीखणजीके वचनामृत से शुद्ध श्रद्धाको प्राप्त कर धर्मके सच्चे स्वरूपको पहचाना। हम ऊपर ही कह आये हैं कि आचार्य महाराजका ध्येय कुछ और ही हो चुका था और इसी कारण से वे लोगों पर जी लगा कर परिश्रम भी नहीं करते थे।

—उपदेशक आचार्य—

शाक्य मुनि गौतम बुद्ध को बोधि प्राप्त हुई तो उन्हें लगा कि जगत् के सुखैषी लोक उनके मार्ग को नहीं सुनेंगे और उसका अनुसरण नहीं करेंगे। अतः एकान्त में मौन धारण कर रहना ही उचित होगा। उस समय ब्रह्मदेव उनके समक्ष उपस्थित हो, हाथ जोड़कर बोले—"हे बुद्ध गुरु! अपने अमृत तुल्य धर्म का लोकों को उपदेश दें। इस जगत् में ऐसे अनेक जीव हैं, जिनके ज्ञान पर अज्ञान का पर्दा नहीं पड़ा है। केवल आपके धर्म वाक्य कान में न पड़ने से उन्हें भारी हानि हो रही है। यदि आप उपदेश करेंगे तो उसके रहस्य को जानने वाले अनेक लोग इस जगत् में मिलेंगे। पर्वत शिखर पर रह कर जैसे नीचे प्रदेश में लोक की तरफ देखते हैं, उसी तरह प्रज्ञा के शिखर पर चढ़ आप इस जन्म-जरा आदिक दुःख से पीड़ित लोगों की तरफ निर्भय रूप से दृष्टि-पात करें। हे शूरवीर! मार के साथ युद्ध कर आपने विजय प्राप्त की। हे लोक नायक! आप सर्व ऋण से मुक्त हुए हैं। अब लोक में फिर-फिर कर आप अपने धर्म का प्रचार करें। आपके धर्म को समझने वाले अनेक लोक आपको मिलेंगे।"

श्रीमद् आचार्य भीखणजी के जीवन में भी ऐसी ही घटना घटी, जिसने उनके जीवन के रुख को बदल दिया और उन्हें मौन-साधक से उपदेशक आचार्य

बना दिया। बुद्ध की तरह ये भी मार पर विजय प्राप्त कर चुके थे। आत्मा की सब हल्की प्रवृत्तियों पर उन्होंने विजय प्राप्त कर ली थी और उनके मनमें जरा भी विषय-वासना न थी। बुद्ध के सामने एक ब्रह्मदेव उपस्थित हुए, परन्तु उस समय श्रीमद् आचार्य भीखणजी के उपदेश की इतनी अधिक जरूरत थी कि उनके सामने दो-दो ब्रह्मदेव उपस्थित हुए। बुद्ध के ब्रह्मदेव आकाश से उतर कर आये परन्तु संत भीखणजी के ब्रह्मदेव तो उनके पास ही थे। व थे—साधु थिर पालजी और फतहचन्दजी। ये दोनों ही पिता-पुत्र थे। दोनों ही बड़े तपस्वी, भद्र, विचार शील और सरल प्रकृति के थे। आचार्य भीखणजी के प्रति अगाध श्रद्धा उनके हृदय में हिलोरें लेती थी। जब उन्हें कोई प्रश्न करता तो सीधा कहते हैं—"भीखणजी से पूछें, जो वे कहें वही ठीक है।" उन्हें अभिमान तो छू तक नहीं गया था। जब कोई पूछता कि आप किस टोले के हैं तो वृद्ध होने पर भी निसंकोच सीधा उत्तर देते—"हम आचार्य भीखणजीके टोले के हैं।" एक बार दोनों संत कोटे पधारे। वहाँ पहुँचते ही उन्हें मालूम हुआ कि कोटा नरेश दर्शन के लिए वहाँ आ रहे हैं। जब इन साधुओं को यह बात मालूम हुई तो उसी समय वहाँ से विहार कर दिया! बोले—"हममें क्या विशेषता है? आचार्य भीखणजी के दर्शन करें।" आचार्य रुघनाथजी के सम्प्रदाय में थिरपालजी और फतेहचन्दजी दोनों ही संत भीखणजी से दीक्षा-पर्याय में बड़े थे। अतः नई दीक्षा के बाद आचार्य हो जाने पर भी दीक्षा में इन दोनों संतों को ही अपने से बड़ा रक्खा। इस तरह उनका बहुमान कर आचार्य भीखणजी ने अपने उच्च मानस का परिचय दिया और वृद्ध संतों के प्रति आदर बुद्धि का एक जीता-जागता उदाहरण छोड़ दिया।

जिन-मार्ग के उद्धार का कोई रास्ता न देख जब आचार्य भीखणजी ने कुछ निराश हो एकांत आत्म-चिन्तन और घोर तपस्या के मार्ग को अपनाया तो इन संतों के मनमें भी ब्रह्मदेव के से ही विचार आये। ये दोनों हाथ जोड़ कर विनय

पूर्वक निवेदन करने लगे : "आप तपस्या द्वारा अपने शरीर को इस तरह क्षीण न करें। तपस्या के लिए तो हम बहुत हैं। आपके हाथों बहुत लोगों का कल्याण होना बदा है। आपकी उत्पाद-बुद्धि बड़ी विचक्षण है। आपमें समझाने की बड़ी कला है। अपने कल्याण के साथ आप दूसरों के कल्याण का भी पूरा सामर्थ्य रखते हैं। आप को तपस्या छोड़, जनता में धर्म प्रचार करने का प्रयत्न कर जिन-शासन का उद्धार करना चाहिए।" सरल हृदय से निकली हुई यह अन्तर पुकार आचार्य भीखणजी के हृदय पर असर कर गई। वयोवृद्ध साधुओंकी सत् परामर्श को स्वीकार कर आचार्य भीखणजी सिद्धान्त-प्रचार के कार्य पर भी विशेष ध्यान देने लगे। उनके धर्म प्रचार और धर्मोद्धारक जीवन का सूत्र पात यहीं से समझना चाहिए। साधु थिरपालजी और फतेहचन्दजी ने आचार्य भीखणजी को जो प्रेरणा दी वह कोई अलौकिक प्रेरणा थी जो उनके ब्रह्म से निकली होगी। इस प्रेरणा को लेकर उन्होंने जगत् का जो हित साधा वह सुवर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य है।

अब स्वामीजी धर्म-प्रचार के लिए अथाह परिश्रम करने लगे। सूर्य की रश्मियाँ जैसे अन्धकार को दूर करती हैं उसी तरह वे जनता की मूढ़ता और भ्रांतियों को भगा, सच्चे जैन धर्म का प्रकाश करने लगे। सूत्रीय प्रमाण–पुरस्सर सिद्धान्त विषयक ढालें लिख-लिख कर वे जनता को समझाने लगे।

उन्होंने दान और दया पर तर्काबाधित और प्रमाण पुरस्सर सुन्दर ढालें लिखीं। व्रत–अव्रतके रहस्यको समझाया। नव तत्त्वों पर एक महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी। श्रावकके व्रतों पर नया प्रकाश डाला। ब्रह्मचर्य के विषय पर महत्व-पूर्ण ढालोंकी रचना की। इस प्रकार उन्होंने जनताके सामने अपनी सारी विचार धारा उपस्थित कर दी। साधु आचार पर ढालें रचकर शिथिलाचार को हटानेका प्रयत्न किया। अपने तथा अपने साधुओंमें सच्चे जैनत्व को उतार कर जनताके सम्मुख सच्चे जैन साधुत्वका मूर्तिमान स्वरूप उपस्थित कर दिया।

—चतुर्विध-संघ—

आचार्य भीखणजीके इस तरह अथक परिश्रम से धीरे धीरे उनके सिद्धान्तोंका प्रचार होने लगा। साधु, श्रावक और श्राविकाओं की संख्या बढ़ने लगी। पर कई वर्षों तक संघमें साध्वियाँ न हुईं। इस पर किसीने आक्षेप करते हुए कहा—"स्वामीजी! आपके केवल तीन ही तीर्थ हैं-साधु, श्रावक और श्राविका। साध्वियाँ न होनेसे आपका यह तीर्थ रूपी मोदक खांडा— अपूर्ण ही है"। स्वामीजीने उत्तर दिया "मोदक खांडा भले ही हो पर है वह चौगुनी चीनीका। अत: स्वादमें अनुपम है"। यह उत्तर देकर स्वामीजीने बतला दिया कि मोदक चाहे पूरा हो पर अगर चीनी उसमें न रहे तो वह स्वाद रहित होगा। उसी तरह संघ में साधु, साध्वी, श्रावक श्राविका चारों ही हों पर सच्चे चारित्रका अभाव हो तो वह संघ नाम मात्रका ही संघ होगा। संघ चतुर्विध न होने पर भी यदि उसमें गुणी, चारित्रवान आत्मायें हैं, तो वह ही वास्तवमें सच्चा संघ है।

इसके थोड़े दिन बाद ही आचार्य भीखणजीके संघमें तीन साध्वियाँ भी हो गईं उनकी प्रव्रज्याकी कथा बड़ी ओज पूर्ण है।

एक ही साथ तीन महिलायें आचार्य महाराज से दीक्षा का अनुनय करने लगीं। जैनसूत्रोंके अनुसार कम से कम तीन साध्वियाँ एक साथ रहनी आवश्यक हैं। आचार्य महाराज ने विचार किया "यदि प्रव्रज्या लेनेके पश्चात् इनमेंसे यदि एकका भी किसी कारणसे वियोग हुआ तो एक कठिन परिस्थिति उत्पन्न हो जायेगी। उस अवस्था में बाकी दो साध्वियोंके लिये संलेषणा करनेके अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रह जायेगा। अत: इस आगेकी बातको सोच समझ कर ही कार्य करना चाहिये।" यह विचार कर उन्होंने सारी बात दीक्षार्थी बाइयोंके सम्मुख रख दी और दीक्षा लेनेके पूर्व इस बात पर गम्भीरता पूर्वक विचार कर लेनेको कहा। तीनों ही बाइयों ने इस बात पर विचार कर जबाब दिया—"अगर हममें से किसीका भी वियोग हुआ तो शेष संलेषणा कर शरीर विसर्जन करनेके लिये प्रस्तुत हैं।" आचार्य महाराजको

उनके वैराग्य पर तो पहले से ही विश्वास था। अब उनकी दृढ़ता की भी जाँच कर ली। बाइयोंके वीरोचित उत्तरसे आचार्य महाराज प्रसन्न हुए। योग्य समझ दीक्षा दी। इन साध्वियोंके नाम श्री कुशलाँजी, मटुजी और अजबुजी थे।

इस तरह अपने संघमें कमजोरीको जरा-सा भी स्थान न पाने देते हुए और शिथिलाचारको बिलकुल दूर करते हुए आचार्य भीखणजी निरन्तर जागरूकता और परम विवेकके साथ अपने मार्गको अग्रसर करते जा रहे थे। माता दीपाँबाईके ये ओजस्वी पुत्र एक केशरी सिंहके से प्रबल पुरुषार्थका परिचय देते हुए जिन-शासन को दिनों-दिन उद्दीप्त करते जा रहे थे। साधु-साध्वियोंकी संख्या खूब बढ़े, इसकी ओर उनका जरा भी ध्यान न था। वे तो केवल यह चाहते थे कि साधु-साध्वियां चाहे कम ही हों पर जो हों वे चौगुनी चीनीके हों—अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपमय जीवन का ज्वलन्त उदाहरण जनता के सामने उपस्थित कर सकें और मौका आवे तो जिन-शासनके उद्धार कार्यमें अपने प्राणोंको न्यौछावर करने में भी कोई मोह न रखें—ऐसे हों। स्वामीजी वीर भगवान के प्रवचनोंको ही अपने जीवनका दिशा-यन्त्र बना चुके थे। उनका एक भी क्रिया-कलाप ऐसा न होता जो इस दिशा-यन्त्रसे निर्दिष्ट न हो। उनका विवेक हद दर्जेका था। उनके प्रत्येक कार्य में चकित करनेवाली दूरदर्शिता होती। वे बड़े अग्रसोची थे और उनकी हार्दिक कामना थी कि वे जिन-शासन रूपी वृक्ष को इतना गहरा सींच सकें और उसकी जड़ पातालमें रोप सकें जिससे कि वह सतत् आँधी और तूफानके झोकों को भी अडिगता पूर्वक सह सके। उनकी आत्मा ऐसे ही भावों से ओत-प्रोत थी और इसी कारणसे वे एक बहुत उच्च जैन साधु जीवनका आदर्श युग-युग के लिये छोड़ सके और यही कारण है कि आज उनका वह संघ एक नन्दनवन की तरह लहलहाकर शोभा पा रहा है। वास्तवमें ही आचार्य भीखणजी जिन-शासनके भौमिया पुरुष थे। धीरे-धीरे उनका यश दिग्दिगन्त में फैल गया और इसके साथ ही साथ श्रावक श्राविकाओं की सख्या भी बढ़ने लगी।

५

महा प्रस्थान

—अदृष्टका आभास और अन्तिम उपदेश—

सं १८५९ की सालमें स्वामीजीने पालीमें चातुर्मास किया। वहाँसे विहार कर चाणोदसे पीपाड़ तक के गाँवोंको अपने चरणोंसे पवित्र करते हुए स्वामीजी सोजत पहुँचे। वहाँ बाजारमें छत्रियोंमें ठहरे। चातुर्मासकी समाप्ति पर भिन्न २ स्थानोंसे विहार कर संत स्वामीजी के दर्शन के लिये सोजत पधारे। स्वामीजी ने यहाँ संतोंके आगामी चौमासे फरमाए। हुकमचन्द नामक एक श्रावकने स्वामीजीको शिरियारीमें चौमासा करनेकी अर्ज की। स्वामीजीने अर्ज मंजूर की। स्वामीजीने (१) भारीमालजी, (२) खेतसीजी, (३) उदैरामजी, (४) ऋषि रायचन्दजी (५) जीवोजी और (६) भगजी इन छः संतोंको साथमें रक्खा। स्वामीजी आदि ये सात ऋषि कंटालिया और बगड़ी होते हुए शिरियारी पधारे। स्वामीजी का यह सं० १८६० का चातुर्मास ही अन्तिम चातुर्मास था। इसी सालकी भाद्र शुक्ला त्रयोदशी को स्वामीजीका देहान्त हुआ। अन्त समय तक स्वामीजीके हद दर्जे की आत्म-जागरूकता और आत्म-समाधि रही। यों तो उनकी भावनाएँ सदा ही निर्मल रहती थीं, परन्तु अन्त समयमें उनकी निर्मलता और उच्चता परम दर्शनकी वस्तु थी। उन्होंने मृत्युको बड़ी प्रसन्नता पूर्वक झेला था। अन्तिम समयकी उनकी निर्भीकता, दृढ़ता, आत्म-जागृति और सहजानन्द को देखते हुए उन्हें मृत्युंजय कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। वे एक वीरकी तरह जीये और उनकी मृत्यु भी वीर-रस से परिपूर्ण थी।

स्वामीजी शिरियारीमें पधारे उस समय तक उनके शरीरमें कोई रोग नहीं था। वृद्ध हो चुकने पर भी उनकी सारी इन्द्रियाँ बलवान और कार्यकारी थीं।

उन्हें स्थिरवास करनेकी जरूरत नहीं हुई। उनका उपयोग बड़ा तीव्र था। उनकी चाल वृद्धावस्थामें भी तेज थी। वे बड़ा परिश्रम किया करते थे, यहाँ तक कि रोज स्वयं गोचरी पधारा करते और शिष्योंको लिख-लिख कर स्वयं 'आवश्यक सूत्र' का अर्थ बताया करते। उस समय तक वे धार्मिक चर्चामें विशेष रस लेते थे।

श्रावण सुदी १५ के बाद से स्वामीजीको साधारण दस्तकी शिकायत रहने लगी। दवा-सेवन से कोई लाभ नहीं हुआ। पर्युषण पर्व के दिन आए। बीमारी की हालतमें भी वे तीनों वक्त—सुबह, मध्याह्न और रात्रिमें धार्मिक उपदेश और व्याख्यान दिया करते, खुद गोचरी जाते और शौच भी बाहर जाना जारी रक्खा। बीमारी कोई खतरनाक नहीं दिखती थी और न किसीने इसे भयानक समझा। भाद्र शुक्ला ४ की बात है। स्वामीजीको ऐसा लगा जैसे उनका शरीर ढीला पड़ गया हो। उन्हें अपनी आयु नजदीक मालूम देने लगी। उन्होंने खेतसीजी से कहा :—"तुम, भारीमाल और टोकरजी बड़े सुविनीत शिष्य हो। तुम लोगोंने मेरी बड़ी भक्ति की। तुम लोगोंके कारणसे मुझे बड़ी समाधि रही और शांत चित्त से संयम पालन करनेमें बड़ा सहारा रहा।" इस प्रकार अपने गुणवान शिष्यों की प्रशंसा कर स्वामीजीने श्रावक, श्राविकाओं के सामने ही ऋषि भारीमालजी आदि संतोंको बड़ा मार्मिक उपदेश दिया, जिसका सार इस प्रकार है :

"१—जिस तरह तुम लोग मुझे बहुमान देते रहे और मेरे प्रति तुम लोगों की प्रतीति थी, वैसे ही ऋषि भारीमालके प्रति रखना।

२—शिष्य भारीमाल सर्व सन्त सतियोंका नाथ है, उसको आचार्य मान सब कोई उसकी आज्ञा की आराधना करना। उसकी आज्ञा या मर्यादाका भङ्ग मत करना।

३—ऋषि भारीमालकी आज्ञाको लोपकर—उल्लंघन कर, जो गण बाहर होजाय उसे साधु मत समझना, जो उसकी आज्ञाको शिरोधार्य करे और उसके प्रति सदा सुविनीत रहे, उसकी सेवा करना। यह जिन-मार्ग की रीति है।

४—ऋषि भारीमालको भार-लायक समझ कर ही आचार्य पदवी दी है और गण का भार सौंपा है। इसकी प्रकृति बड़ी भद्र, शुद्ध और निर्मल है। उसमें शुद्ध साधुकी चाल है और वह शुद्ध संयम पालनका कामी है। इसमें शंका को कोइ स्थान नहीं है।

५—शुद्ध—सदाचारी साधुओं की सेवा करना; अनाचारियोंसे दूर रहना जो, कर्म-संयोगसे अरिहन्त भगवान और गुरु-आज्ञा का लोप करें—उन अपछन्दों—स्वेच्छाचारियोंको वन्दना योग्य मत समझना।

६—भगवानकी आज्ञाको लोप कर चलनेवालों—उसन्नों, पासत्थों, कुशीलियों, प्रमादी और अपछन्दोंकी संगति मत करना। जिन भगवानने उपासकदशाङ्ग में इनकी संगतिका निषेध किया है। आनन्द श्रावक के अभिग्रह के परमार्थको समझ कर इस बातका पालन करना। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकाएँ सबको इनकी संगतिसे दूर रहना चाहिये। जिन भगवानकी आज्ञाके पालन से परम सुख मिलता है और संसारका अन्त होता है।

७—सन्त-सती, सब परस्परमें विशेष प्रीति-भाव रखना। एक दूसरेके प्रति राग-द्वेष मत करना और न कभी दलबन्दी करना। आज्ञा लोप कर दलबन्दी करनेवाला अविनयी एकलविहारीसे भी बुरा है।

८—दिल देख-देख कर दीक्षा देना और ऐरे-गैरे हर किसीको मत मूँडना।

९—सूत्रकी कोई बात समझमें न आये तो उसे लेकर खींचातान मत करना, मनमें सन्तोष और धैर्य रखकर उसे केवलियोंको भोला देना—उन पर छोड़ देना।

१०—किसी बोल (बात) की स्थापना गुरुकी आज्ञा बिना स्वच्छन्द मतसे नहीं करना।

११—एक, दो, तीन,—कितने ही गणसे क्यों न निकल जाय, उनकी परवाह न करना। उन्हें साधु मत समझना और शुद्धतासे साधु-आचारका पालन करते जाना।

१२—सब एक गुरुकी आज्ञा में चलना; इस परम्परा मर्यादा—रीतिको सदा निभाना। आगे जो लिखत हैं, उन्हें बराबर पालन करना।

१३—कोई साधु दोष-सेवन कर झूठ बोले और प्रायश्चित न ले तो उसे गणसे दूर–बहिष्कृत कर देना।" *

---

* स्वामीजीका उपरोक्त उपदेश, कई विचारक बन्धुओं का कहना है कि विचार–स्वातन्त्र्य का गला घोंटता है। स्वामीजीके उपरोक्त बोध में से नं० २, ३ और ९ को ही उद्धृत कर उस पर टिप्पणी करते हुए 'ओसवाल नवयुवक' के विद्वान सम्पादक श्री भँवरमलजी सिंघी ने इसी मासिक पत्रके ९ वें वर्षके ८ वें अङ्कमें लिखा था :

"यदि उक्त आचार्य के इन उपदेशोंको ध्यानमें रखकर हम उनके सम्प्रदाय–विच्छेद के कार्यको देखें तो वे स्वयं अपने उपदेशोंसे गुरुकी आज्ञाको उलङ्घन करनेवाले अविनयी सिद्ध होते हैं। उन्होंने ही अपनी शङ्का को खींचातान के बदले क्यों नहीं केवलीको सौंप दिया ? लेकिन नहीं, जडता तो सम्प्रदायिकताके साथ रहनेवाला अनिवार्य पाप है। वास्तवमें जो उक्त आचार्य ने किया वह उनकी आत्माके बलका परिचायक था, पर जो उपदेश दिया वह निर्बलता, साम्प्रदायिकता और जिन–मार्ग विपरीतता थी। जिस भी आचार्य ने ऐसा किया है और लगभग सभी सम्प्रदायाचार्यों ने ऐसा किया है–वे सभी दोष के भागी हैं।"

परन्तु गम्भीरता पूर्वक देखने से पता चलेगा कि उपरोक्त उद्‌ सोच-विचार कर प्रकट नहीं किए गए हैं, उनके पीछे **जैन–धर्मके** विचार सम्बन्धी गहरा अज्ञान रहा हुआ है। जैन शास्त्रोंमें **—जगह** विनय करनेकी बात आई है। "जिस तरह अग्निहोत्री करनेमें सावधान रहता है, उसी तरह शिष्यको अपने

४—ऋषि भारीमालको भार-लायक समझ कर ही आचार्य पदवी दी है और गण का भार सौंपा है। इसकी प्रकृति बड़ी भद्र, शुद्ध और निर्मल है। उसमें शुद्ध साधुकी चाल है और वह शुद्ध संयम पालनका कामी है। इसमें शंका को कोई स्थान नहीं है।

५—शुद्ध—सदाचारी साधुओं की सेवा करना; अनाचारियोंसे दूर रहना; जो कर्म-संयोगसे अरिहन्त भगवान और गुरु-आज्ञा का लोप करें—उन अपछन्दों—स्वेच्छाचारियोंको वन्दना योग्य मत समझना।

६—भगवानकी आज्ञाको लोप कर चलनेवालों—उसन्नों, पासत्थों, कुशीलियों, प्रमादी और अपछन्दोंकी संगति मत करना। जिन भगवानने उपासकदशाङ्ग में इनकी संगतिका निषेध किया है। आनन्द श्रावक के अभिग्रह के परमार्थको समझ कर इस बातका पालन करना। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकाएँ सबको इनकी संगतिसे दूर रहना चाहिये। जिन भगवानकी आज्ञाके पालन से परम सुख मिलता है और संसारका अन्त होता है।

७—सन्त-सती, सब परस्परमें विशेष प्रीति-भाव रखना। एक दूसरेके प्रति राग-द्वेष मत करना और न कभी दलबन्दी करना। आज्ञा लोप कर दलबन्दी करनेवाला अविनयी एकलविहारीसे भी बुरा है।

८—दिल देख-देख कर दीक्षा देना और ऐरे-गैरे हर किसीको मत मूँडना।

९—सूत्रकी कोई बात समझमें न आये तो उसे लेकर खींचातान मत करना, मनमें सन्तोष और धैर्य रखकर उसे केवलियोंको भोला देना—उन पर छोड़ देना।

१०—किसी बोल (बात) की स्थापना गुरुकी आज्ञा बिना स्वच्छन्द मतसे नहीं करना।

११—एक, दो, तीन,—कितने ही गणसे क्यों न निकल जाँय, उनकी परवाह न करना। उन्हें साधु मत समझना और शुद्धतासे साधु-आचारका पालन करते जाना।

१२—सब एक गुरुकी आज्ञा में चलना; इस परम्परा मर्यादा—रीतिको सदा निभाना। आगे जो लिखत हैं, उन्हें बराबर पालन करना।

१३—कोई साधु दोष-सेवन कर झूठ बोले और प्रायश्चित न ले तो उसे गणसे दूर-बहिष्कृत कर देना।" *

---

* स्वामीजीका उपरोक्त उपदेश, कई विचारक बन्धुओं का कहना है कि विचार-स्वातन्त्र्य का गला घोंटता है। स्वामीजीके उपरोक्त बोध में से नं० २, ३ और ९ को ही उद्धृत कर उस पर टिप्पणी करते हुए 'ओसवाल नवयुवक' के विद्वान सम्पादक श्री भँवरमलजी सिंघी ने इसी मासिक पत्रके ९ वें वर्षके ८ वें अङ्कमें लिखा था:

"यदि उक्त आचार्य के इन उपदेशोंको ध्यानमें रखकर हम उनके सम्प्रदाय-विच्छेद के कार्यको देखें तो वे स्वयं अपने उपदेशोंसे गुरुकी आज्ञाको उलङ्घन करनेवाले अविनयी सिद्ध होते हैं। उन्होंने ही अपनी शङ्का को खींचातान के बदले क्यों नहीं केवलीको सौंप दिया? लेकिन नहीं, जड़ता तो सम्प्रदायिकताके साथ रहनेवाला अनिवार्य पाप है। वास्तवमें जो उक्त आचार्य ने किया वह उनकी आत्माके बलका परिचायक था, पर जो उपदेश दिया वह निर्बलता, साम्प्रदायिकता और जिन-मार्ग विपरीतता थी। जिस भी आचार्य ने ऐसा किया है और लगभग सभी सम्प्रदायाचार्यों ने ऐसा किया है—वे सभी दोष के भागी हैं।"

परन्तु गम्भीरता पूर्वक देखने से पता चलेगा कि उपरोक्त उद्गार विशेष सोच-विचार कर प्रकट नहीं किए गए हैं, उनके पीछे जैन-धर्मके आचार-विचार सम्बन्धी गहरा अज्ञान रहा हुआ है। जैन शास्त्रोंमें जगह—जगह गुरुके विनय करनेकी बात आई है। "जिस तरह अग्निहोत्री ब्राह्मण अग्निकी शुश्रूषा करनेमें सावधान रहता है, उसी तरह शिष्यको अपने गुरुकी सेवा करनेके

स्वामीजीकी यह चरम सीख—अन्तिम हित शिक्षा थी। इसमें उनके जीवन भरके अनुभव का सार है। अकस्मात् इस मार्मिक उपदेशको सुनकर सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। सन्तों के पूछने पर कि उनको क्या तकलीफ है, स्वामीजी बोले "कोई तकलीफ नहीं। मेरा शरीर अब ढीला पड़ चुका है, मुझे परभव नजदीक दिखलाई दे रहा है—इसलिये यह सीख—अन्तिम शिक्षा दी है। मुझे मृत्युसे जरा भी भय नहीं

लिये सावधान रहना चाहिये। शिष्य गुरुकी आज्ञा अनुसार कार्य करे और गुरु का अपमान नहीं करे।" इस तरहके वाक्य जैन शास्त्रोंमें जगह-जगह आये हैं, परन्तु इन वाक्योंका उद्देश्य कुगुरुओंका विनय करते रहना चाहिये—यह नहीं है। उसी प्रकार स्वामीजी के वचनोंसे यह अर्थ नहीं निकालना चाहिये कि स्वामीजी ने उस विचार स्वतन्त्रताका गला घोंटा था जो स्वतन्त्रता भ्रष्टाचारी गुरुके प्रति बलवा करनेके लिये प्रेरित करे। स्वामीजीने एक आदर्श साधु संस्थाको खड़ा किया था। भारीमालजीमें शुद्ध साधुकी चाल तथा आचार पालनकी नीति देखी थी, इसलिये उन्हें पूज्य मान कर उनकी आज्ञामें चलने का उपदेश दिया था—यह स्वामीजी के उन उपदेश वाक्योंसे प्रगट हैं, जो कि उद्धरणमें छोड़ दिये गए हैं और जिन पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया है। अपने उपदेशमें उन्होंने यह भी कहा था—"जो साधु लिये व्रतोंका पालन न करे—दोषका सेवन करे और मालूम पड़ जाने पर भी उसका यथोचित प्रायश्चित न ले तो बिना किसी प्रकार की खातिर कर उसे गण बाहर कर देना। स्वामीजीने ऋषि भारमालजीके लिये अलग नियम रख दिया था, यह कहीं नहीं मिलता। उनमें कोई दोष दिखाई दे तो भी उपेक्षा करते जानेका उन्होंने साधुओंको उपदेश नहीं दिया था। उन्होंने जगह-जगह कहा है "जैन धर्ममें गुणोंकी पूजा है, वे मार्ग दूसरे हैं जो निर्गुणोंकी पूजा करते हैं। सोनेकी छुरी सुन्दर होने पर भी उसे कोई पेटमें नहीं मारता। उसी प्रकार कुल-परम्परागत गुरु भी यदि भ्रष्टाचारी हो और

है। मेरे हृदय में परमानन्द है। तुमलोगोंके सहयोगसे मुझे अपूर्व समाधि रही है। मैंने अनेक मुमुक्षु जीवोंके हृदयमें अमोल समकित रूपी बीज रोपा है। अनेकोंको मैंने बारह व्रत ग्रहण कराए हैं तथा अनेकोंको साधु प्रव्रज्यामें दीक्षित किया है। मैंने सूत्र और न्याय के अनुसार अनेक ढालें रची हैं। अब मेरे मनमें कोई बात नहीं रही।" यह कहकर स्वामीजीने फिर उपदेश दिया: "तुम लोगोंसे मेरा यही कहना है कि

कुगतिको पहुंचानेवाला हो तो वह पूजनीय नहीं है।" स्वामीजीके ये वाक्य भी सबके लिये थे। अपने सम्प्रदायके, बादमें होने वाले, आचार्यों के सम्बन्धमें उन्होंने दूसरा नियम नहीं किया था। उनके सम्बन्धमें कोई छूट नहीं रखी थी। फिर उपरोक्त उद्‌गारोंको प्रगट करनेकी कोई भित्ति नहीं है। भावावेगमें आकर लेखकने एक बहुत बड़ा अन्याय कर डाला है। स्वामीजीने यह भी उपदेश दिया था कि दिल देख-देख कर दीक्षा देना, हर किसीको मत मुण्ड लेना। इसमें गुणों को प्रथम देखनेकी हिदायत की है, फिर वह कौनसी स्वतन्त्रता है जिसका स्वामीजी ने गला घोंटा था और जिसको लेकर यहाँ तक लिख दिया गया कि स्वामीजी का यह उपदेश जिन-मार्ग विपरीतता थी? दसवैकालिक सूत्र में लिखा है: "आदर्श साधु असंयमियों की सेवा नहीं करता, उनका अभिवादन नहीं करता, उनको वदन-नमस्कार नहीं करता, परन्तु वह असंयमी के सगसे मुक्त हो ऐसे आदर्श साधुओंके सघमें रहता है जिसमें कि उसके चारित्र की हानि न हो।" उपरोक्त उपदेश को देते समय स्वामीजी के सामने कठिन सयमी भगवान महावीर के उपरोक्त तथा सूत्रों में जगह-जगह आये ऐसे ही अन्य प्रवचन रहे होंगे। इन उपदेशों में एक बहुत बड़ा परमार्थ था। स्वामीजी अपने गण को आपात पवित्र समझते थे। शुद्ध 'जिन-शासन मूल रूप में चलता रहे, उसमें विकार न आय, इस दृष्टिसे ही उन्होंने उपरोक्त नियम किये थे। कोई भावावेश में आकर, उनमे गहरी साम्प्रदायिकता का भले ही दर्शन करे परन्तु वे केवल एक मात्र

स्थिर चित्त रखकर भगवानके मार्ग का अनुसरण करना, कुमति और कदाग्रह को दूर छोड़कर सदा आत्माको उज्ज्वल—निर्मल करना, शुद्धाचारकी आराधनामें पाल भर भी मत चूकना, पांच समिति, तीन गुप्ति और पांच महाव्रत का पूर्ण सावधानीके साथ पालन करना, शिष्य-शिष्याओं तथा वस्त्र आदि वस्तुओं पर जरा भी मूर्च्छा भाव मत रखना, प्रमादको सदा दूर करना संयममें शुद्ध मनसे अनुरक्त रहना और पौद्गलिक आसक्तियोंको तन-मन से दूर करना।

स्वामीजीका यह अन्तिम उपदेश कितना अनुपम है। वह आज भी स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य है। स्वामीजीने यह जो अन्तिम अमृत घूंट पिलाई, वह आज भी समूचे संघको तरुण बनाए हुए है। संघ-संचालनके कार्यमें यह अन्तिम दिशा निर्देश बड़ा ही उपयोगी और महत्वका सिद्ध हुआ है। स्वामीजी बड़े ही ज्ञानी, दूरदर्शी और विचक्षण पुरुष थे। इसीसे शासन एवं गणके हितके लिये वे ऐसा

इसी उद्देश्य से दिये गए थे कि भगवान का शासन जयवन्ता रहे वह दिन-दिन प्रगति करता जाय; गुणों की पूजा हो, निर्गुणों का सत्कार न हो। केवली को सौंप देने की बात भी व्यर्थ के वितण्डावाद को कम करने के गम्भीर हेतु से कही गई थी। स्वामीजी खुद ने सूत्रों के ऐसे बोलों को केवली पर छोड़ा था जिनका आशय स्पष्ट रूप से समझ में नहीं आता था। इसका आशय यह न था कि आचार विचार में शिथिलता आ जाय और सूत्रोंके वचनों से यह प्रगट हो कि वास्तव में शिथिलाचार का सेवन किया जा रहा है तो भी अपनी शंकाओं को केवली को सौंप देना! स्वामीजी की पंक्तियों का ऐसा अर्थ करना तो अनर्थ करना होगा, बुद्धि को ताक पर रखना होगा। उसका अर्थ तो साफ और सीधा है और वह इतना ही है कि कोई ऐसा बोल हो जिसका अर्थ समझ में नहीं आता हो तो उसको लेकर खींचातान नहीं करनी चाहिए—व्यर्थ शब्दों के झगड़ों में न पड़ उसे केवली गम्य समझ कर सन्तोष करना चाहिए।

अमोलक उपदेश दे सके।

इस उपदेशके बाद स्वामीजीने ऋषि रायचन्दजी को सम्बोधित कर कहा— "ब्रह्मचारी! तुम बुद्धिमान बालक हो, मोह मत करना।" ऋषिने जवाब दिया: "आप तो अपने मनुष्य जन्मको सार्थक कर रहे हैं, फिर मैं मोह क्यों करने लगा?"

ऋषि भारीमालजी पासमें ही बैठे हुए थे। वे स्वामीजी से बोले: "आपके पास रहनेसे मनमें हमेशा हिम्मत रहती थी। अब विरहके दिन आ रहे हैं। यह सहन करना कितना कठिन है—यह भगवान ही जानते हैं।" स्वामीजी बोले: "तुम निर्मल चित्तसे निर्दोष सयमका पालन कर मनुष्य-भवको सार्थक कर, देव बनोगे।"

—आत्म-निरीक्षण और आत्म-शोधन—

इसके बाद में स्वामीजीने तीव्र आत्म-आलोचना की तथा जान-अजानमें कोई पाप हुआ हो तो उसके लिये "मिच्छा मि दुक्कड" किया। चन्द्रभाणजी, तिलोकचन्द जी आदि जो गण बाहर हो गये थे, उनके नाम ले-लेकर 'क्षमा-क्षमापना' किया। कहनेका तात्पर्य यह है कि उन्होंने निर्मल चित्त से तलस्पर्शी आत्म-निरीक्षण कर अघ परिहार द्वारा जीवन शुद्धि की। स्वामीजी की इस आत्म-आलोचना का सार श्रीमद् जयाचार्य ने "भिक्षु जश रसायन" नामक ग्रंथमें दिया है। इसके पढ़नेसे परम शान्ति और स्वर्गीय आत्मानन्द मिलता है। इस आलोचना के सम्बन्ध में उपरोक्त आचार्य लिखते हैं :"ऐसी आलोचना के कान में पड़ने से ही अत्यन्त वैराग्य उत्पन्न होता है और जो ऐसी आलोचना करता है, उसका तो कहना ही क्या? उसके बड़े भाग्य हैं।"

—अनशन—

यह चौथ की बात है। भाद्र शुक्ला पचमी—'सम्वत्सरी' के दिन स्वामीजी ने चौआहार शुन्य उपवास किया। तृषा—प्याससे बड़ी असाता – तकलीफ हुई, परन्तु

स्वामीजी ने बड़े समचित्त से उसे सहन किया। छठके दिन बहुत थोड़े आहारसे पारणा किया और औषध भी ली परन्तु तुरन्त ही वमन हो गया। स्वामीजी ने उस दिन के लिए तीन आहार का त्याग कर दिया। सप्तमी तथा अष्टमी को भी अल्प आहार लेकर त्याग कर दिया। खेतसीजी ने इस तरह त्याग न करने के लिए आग्रह किया, परन्तु स्वामीजी ने कहा 'अब देह से क्या मोह है ? अब तो उसे क्षीण करते हुए वैराग्य बढ़ाना चाहिए।' ९ मीं तथा १० मीं को स्वामीजीने आजी वन आहार त्याग की बात चलाई, परन्तु खेतसीजी तथा भारीमालजी के अनुरोध से थोड़ा आहार चखा और फिर तुरन्त आहार का त्याग कर दिया। एकादशी के दिन अफीम और जलके सिवा सब आहार का त्याग कर दिया और बोले "आज से आहार लेने का विचार नहीं।" बारस के दिन बेला किया। इस प्रकार शरीर की ममता न करते हुए तथा पौद्‌गलिक सुखोंको ठुकराते हुए स्वामीजी 'संथारे'—देह विसर्जन—की तैयारी करने लगे। वे बड़े सजग रहते और उनके हृदयमें अपूर्व वैराग्य था। इधर शरीर—पौद्‌गलिक–शक्ति क्षीण पड़ती जा रही थी और उधर उनकी आत्मा अधिकाधिक दृढ़ होती जा रही थी। शरीर–शक्ति और आत्म-शक्ति में कठोर द्वन्द्व हो रहा था। स्वामीजी बड़े प्रसन्न चित्त थे। उनकी भावनाएँ बड़ी निर्मल थीं। वे देह का सार खींच चुके थे। अब वह उनके लिए असार वस्तु थी। जब तक देह जीवन जीने में सहायभूत थी, वे उसका अनाशक्ति पूर्वक पालन करते रहे, जब देह जीवन जीने में सहायभूत होती नहीं मालूम दी, तो वे अनाशक्ति पूर्वक उसके विसर्जन के लिए तुल गए। वे अनूठे योगी थे। मृत्यु को वे एक दैवी सम्पत् की तरह वरन करने को प्रस्तुत थे। उन्होंने जो कुछ किया, वह आत्म साक्षी पूर्वक भगवान के वचनों को सामने रख कर, इसीलिए फलके सम्बन्ध में उन्हें जरा भी शंका न थी और वे इतने निश्चिंत थे। मौत का उन्हें जरा भी भय न था।

—आजीवन आहार-परित्याग—

सोमवार, भाद्र शुक्ला बारस का दिन आया। स्वामीजी कच्ची हाट से चलकर सामने वाली पक्की हाट में आए। शिष्यों ने बिछौना किया और स्वामीजी शान्ति से विश्राम करने लगे। इस तरह विश्राम करते हुए कुछ ही देर हुई होगी कि ऋषि रायचन्दजी, स्वामीजी के पास आकर बोले: "स्वामीनाथ! कृपा कर दर्शन दीजिए।" "स्वामीजी ने यह सुन नेत्र खोले और ऋषि की ओर देखते हुए उनके मस्तक पर अपना हाथ रखा। बुद्धिमान बालक संत रायचन्दजी, स्वामीजी की हालत देख कर उनसे बोलेः "स्वामीनाथ! आपके पराक्रम क्षीण पड़ रहे हैं।" यह बात सुनते ही स्वामीजी चौंक बैठे जैसे कोई सोया हुआ सिंह जगा हो। अपने शरीर की सारी शक्ति बटोर कर वे उठ बैठे। पुद्गलों के साथ यह कैसा तुमुल युद्ध था! कैसी चमत्कार पूर्ण आत्म–जागृति और आत्म–साधना थी!! स्वामीजी ने उसी समय ऋषि भारीमालजी और खेतसीजी को अपने पास बुलाया। याद करते ही दोनों संत उपस्थित हुए। उनके पहुँचते ही अरिहन्त और सिद्ध भगवान को 'नमोत्थुणं' कर श्रावक-श्राविकाओं के सन्मुख उच्च स्वरसे यावज्जीवन तीन आहार का त्याग कर तीव्र वैराग्य भाव से 'संथारा' कर दिया। संतों ने कहा: "अफीम का आगार क्यों नहीं रख लिया?" स्वामीजी ने जवाब दिया—"अब आगार किस लिए? अब शरीर की क्या सार करनी है?"

जिस समय स्वामीजी ने 'संथारा' ग्रहण किया उस समय करीब दोघड़ी दिन था। हवा की तरह यह बात चारों ओर फैल गई। लोग चारों ओर से दर्शन के लिए जुटने लगे। नर-नारियों की इतनी भीड़ हुई कि बाजार में समानी कठिन हो गई। जो जन्म भर द्वेषी रहे, वे भी आश्चर्यचकित हो गए और अब उनकी समझमें आया कि यह मार्ग कितना खरा—सच्चा है।

"कई धर्म तणा द्वेषी हुंता हो, ते पिण अचरज पाम्या तिणवार।
अनमी कई आवी नम्या हो, स्वाम तणे सन्थार॥"

'स्वामीजीके इस सन्थारेमें वे भी उनके चरणोंमें आकर झुक गये, जिन्होंने पहले नमस्कार करना तो दूर रहा, कभी उन्हें सद्भावनासे देखा तक न था।"

स्वामीजीने बड़ों-बड़ोंसे बाजी लगा दी। 'सन्थारा' पचक्ख बड़े भारी मनोबल का परिचय दिया। धन्य है स्वामीजी की धीरता ! धन्य है उनका निर्मल ध्यान !! धन्य है उनकी शूर वीरता !!! और धन्य है उनकी मेरुके समान दृढ़ता !!!!

झुंड के-झुंड लोग आकर परम हर्षके साथ स्वामीजीके दर्शन कर क्षमा-क्षमापना करने लगे। लोगोंने नाना प्रकारके पचक्खाण-त्याग किये। किसीने स्वामीजीका सन्थारा' पूरा न हो तब तक के लिये कच्चा जल छोड़ा, किसीने ब्रह्मचर्य का नियम लिया, किसीने अग्नि सिलगाने का त्याग किया, किसीने हरी खाने का किसीने रात्रि भोजनका। इस तरह लोग धर्म-ध्यानकी ओर चित्त देकर स्वामीजीके प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलियाँ चढ़ाने लगे।

सन्थारे' के बाद सन्ध्या समय स्वामीजीने 'प्रतिक्रमण' किया और बादमें रात्रिमें ऋषि भारीमालजीसे बोलेः "व्याख्यान दो।" एक ओर स्वामीजी का 'सन्थारा' और दूसरी ओर व्याख्यान देनेकी आज्ञा ! ऐसी परिस्थितिमें व्याख्यान देना बहुत बड़े धैयको समेटना था। यह कोई सहज बात न थी। ऋषि भारीमालजी बोले "स्वामीनाथ ! आपके 'सन्थारे' में हमारे व्याख्यानकी क्या विशेषता ?" स्वामीजी बोलेः "कोइ साध्वी 'सन्थारा' करती है तो उसके पास जाकर धर्मोपदेश किया जाता है, फिर हमारे 'संथारे' में धर्मोपदेश क्यों नहीं देते !" गुरुने शिष्यसे धर्मोपदेश सुनना चाहा और उसके लिये कितना आग्रह दिखाया ! जब शरीर-शक्ति क्षीण होने लगती है तो आत्मार्थी पुरुष दूसरोंके सहारेसे अपनेको चेतन रखनेकी चेष्टा करता है। स्वामीजी अपने संथारेमें अपने शिष्यसे धर्मोपदेश सुनकर धर्म-ध्यानमें अपनेको लीन कर लेना चाहते थे। विशेष आग्रहके कारण भारीमालजीको व्याख्यान देना पड़ा। स्वामीजी ने उसे बड़े ध्यानसे मनोयोग पूर्वक सुना।

—अन्तिम दिन—

बारसकी रात बीती और तेरसका पावन दिन उदय हुआ। आस-पासके गाँवोंसे आ-आकर इतने लोग एकत्रित हो गये, जैसे कोई बड़ा मेला लगा हो। लोगोंके हृदय हर्षसे भरे हुए थे। सबके चेहरों पर परमानन्द था। स्वामीजीके दर्शन कर लोग तन-मनसे हर्षित हो रहे थे और उनके गुणगाण करते हुए कह रहे थे. ‘आप धन्य है। आप जिन-मार्ग के धोरी हैं। आपने जिस उमङ्ग और उत्साहसे शुद्ध मार्ग ग्रहण किया, उसी उत्साह और उमङ्गसे आपने उसे आजीवन उज्वलित किया है। आपकी शूर वीरता धन्य है और धन्य है आपका पराक्रम !”

सुबह प्रायः पहर दिन चढा होगा, स्वामीजीने कुछ जल ग्रहण किया और ध्यानस्थ हो गये। इस समय एक आश्चर्यकारी घटना घटी। करीब १॥ पहर दिन चढा होगा। स्वामीजी बोलेः “साधु और साध्वियाँ आरही हैं, उनके सामने जाओ।” कइयों ने समझा स्वामीजीका ध्यान साधुओं में लगा हुआ है, इसीलिये ऐसा कह रहे हैं। परन्तु ऐसा कहनेके करीब एक मुहूर्त बाद कई साधु आ पहुँचे जो तृपासे अत्यन्त व्याकुल हो रहे थे और फिर एक मुहूर्त बाद साध्वियां भी पहुँचीं। लोगोंके आश्चर्यका ठिकाना न रहा। स्वामीजीने यह बात कैसे कही, यह कोई नहीं सका। इस घटना पर टिप्पणी करते हुए श्रीमद् जयाचार्य लिखते हैं कि स्वामीजी ने यह बात अटकल-अन्दाजसे कही थी या उन्हें अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ था, यह निश्चय तो केवली ही जाने परतु उनकी कही हुई बात अवश्य मिली। आये हुए साधु-साध्वियों ने स्वामीजी को वदन-नमस्कार किया। स्वामीजीने वदना स्वीकार सतोंके मस्तक पर हाथ रक्खा।

स्वामीजीको लेटे हुए बहुत देर हो चुकी थी। सतोंने उनकी इच्छासे उन्हें बिठाया। स्वामीजी ध्यानासनमें बैठे। उस समय उनके कोई तकलीफ नहीं मलूम देती थी, शरीर निरोगसा लगता था। दर्जी बैकुण्ठी सीनेके लिये आये।

जीवन सम्बन्धी ास-खास तें

—महत्वपूर्ण वर्ष—

(१) जन्म सम्वत् : १७८३

(२) प्रथम दीक्षा सम्वत्:१८०८

(३) वोध-प्राप्ति सम्वत्: १८१५

(४) नई दीक्षा सम्वत्: १८१७

—महत्व पूर्ण स्थान—

(१) जन्म स्थान : कंटालिया ग्राम

(२) प्रथम दीक्षा : वगड़ी

(३) वोध-प्राप्ति स्थान : राजनगर

(३) नई दीक्षा : केलवा

(४) चर्म कल्याण : शिरियारी

—आयुष्य का ब्यौरा—

(१) घर में : २५ वर्ष

(२) आचार्य रुघनाथजी के साथ : ८ वर्ष

(३) तेरापंथी सम्प्रदाय के नायक रूपमें : ४४ वर्ष

(४) देहावसान ७७ वर्ष की अवस्था में

— ा और शरीर—

स्वामीजीका शरीर दीर्घ वलवान था। उनकी आँखें विशाल और तेजस्वी थीं।

आंखोंमें खून की लाली दिखाई देती और उनसे एक स्वाभाविक प्रकाश प्रकट होता। उनका वर्ण श्याम था। चेहरा सुडौल और सुहावना था। मुख मुद्रा बड़ी ही सौम्य और शरीर निर्मल था। उनकी चाल फुरतीली थी और अन्त समय तक वह वैसी ही रही।

स्वामीजी की वाणी में मधुरता, प्रभाव और चुम्बक का सा आकर्षण था। शब्दों में समुद्र का सा गुंजारव था। शब्द घोष उच्च और गंभीर था। वचनों में अद्भुत सिद्धि और चमत्कार था। उनके शरीर चिन्हों के विषयमें एक दोहा 'शासन विलास' नामक ग्रन्थ में मिलता है, जिसे हम नीचे देते हैं—

श्री भिक्षुना पग जीमणा में ऊर्द्ध रेखा जाणियै
जीमणा हाथे मच्छ रेखा मच्छाकार वखाणियै
वलि जीवणा कर पास पहुँच तीन रेखा मणिवधरी
द्वय हस्त नी दश आंगुलीये दशो चक्र अछै वरी ॥ १ ॥
नाड़ (ग्रीवा) तेह में त्रय रेख लाम्बी ही सही
ललाट में पिण तीन रेषा जु लांबी ते बहु शुभ कही
द्वय कण ऊपर केश जाके पेट पर रेखा त्रयो
वलि पेट ऊपर सुंडी पासे स्वस्तिका आकार ही ॥ २ ॥
पुन पेट ऊपर ध्वजा को आकार लखियो आख ही
तस फल वरस द्वय सहस परिमित नाम जग विख्यात ही
इत्यादि शुभ लक्षण घणां श्री भिक्षुना तनना लिख्या
देखिने अनुसार तेहने इहां पिण तिमहिज अख्या ॥ ३ ॥

—जन्म-कुण्डली—

"शासन विलास' में स्वामीजी की कुंडली निम्नलिखित गाथाओं में मिलती है:—

मीन लग्न लग्ने तम गुरू रे तृतीय भृगु पंचम रवि बुध सु०
भौम छठे गिरी सम में रे काल दशमं चन्द एकादशम शनि शुद्ध॥

मूल धुव्य त्रय पाद में रे हरख्यो सहु परिवार सु०
भीखण नाम दियो भलो रे लाल कर उत्सव विस्तार ॥ १५ ॥

—प्रचार क्षेत्र—

स्वामीजी की दीक्षा-पर्याय बावन वर्ष जितनी लम्बी थी। स्वामीजी ने कुल ५१ चौमासे किये। ८ चौमासे आचार्य रुघनाथजी के पास रहते हुए किये। अवशेष ४३ चौमासे नई दीक्षा के बाद शुद्ध संयम में बिताये, जिनका ब्यौरा इस प्रकार है :—

स्थान:	चौमासों की संख्या:	सम्यत्:
१—केलवा	६	१८१७,२१,२५,३८,४९,५८
२—बरलू	१	१८१८
३—राजनगर	१	१८२०
४—कंटालिया	२	१८२४,२८
५—बगड़ी	३	१८२७,३०,३६
६—माधोपुर (गढ़ रिणत भावर मी तलेटी)	२	१८३१,४८
७—पींपाड़	२	१८३४.४५
८—आमेट	१	१८३५
९—पादु	१	१८३७
१०—सोजत	१	१८५३
११—श्रीजीद्वार	३	१८४३,५०,५६
१२—पुर	२	१८४७,५७
१३—खेरवा	५	१८२६,३२,४१,४६,५४
१४—पाली	७	१८२३,३३,४०,४४,५२,५५,५९

१५—शिरीयारी ७ १८१९ २२,२९,३९ ४२,५१ ६०

मारवाड़ मेवाड़ ढुंढाड और हाडोती ये चार देश ही स्वामीजी के धर्म प्रचार के क्षेत्र रहे। स्वामीजी एकबार चुरू (बीकानेर) भी पधारे थे। इस तरह थली प्रदेश को भी उन्होंने अपने चरण कमलों से पवित्र किया। थली प्रदेशमे धर्म प्रचार स्वामीजी के समय मे नहीं हुआ था। कच्छ देशमे धर्म प्रचार का कार्य भी टीकम डोसी के द्वारा हुआ था, जिसने स्वामीजी के दो बार दर्शन किये थे।

—स्वामीजी की कृतियाँ—

मूल जैन सिद्धान्त और जैनाचार को जनता मे फैलाने के लिए स्वामीजीने मारवाड़ी भाषा मे साधु तथा गृहस्थ जीवन उपयोगी अनेक महत्वपूर्ण रचनाएँ की हैं। उनकी रचनाएँ जैन साहित्य की अमर कृतियाँ हैं। जैन धर्म के रहस्योद्घाटन मे वे एक गहरा प्रकाश डालती हैं। उनकी अधिकाँश रचनाएँ ढालों—रागिणीपूर्ण कवितावोंमे हैं। गद्य मे भी कई कृतियाँ उपलब्ध हैं। इन रचनाओंमें असाधारण आगमदोहन है और इनसे स्वामीजी की गहरी स्वाध्याय शक्ति, मूलाचार के प्रति अगाध श्रद्धा और जैन धर्म के उद्धार के लिए उनके मनमें रही गहरी तमन्ना का परिचय मिलता है।

स्वामीजी की मुख्य रचनायें, जो हमारी जानकारी मे हैं निम्नलिखित हैं —

रचना	ढाल	दोहा	गाथा
१—बारह व्रत की चोपई	१२	५१	३८०
२—जुवे की ढाल	१	४	६१
३—निनाणुं अतिचार की ढाल	१	२	३१
४—जिन आज्ञा की चौढालियो	४	२२	१८६

५-चार निखेपां की चौपई	६	३०	२६७
६—अनुकम्पा की ढालाँ	१४	६३	६०५
७—समकित की ढ़ाल	१		२३
८—श्रावक गुण सज्झा	१		२१
९—तीन बोलां करी जीव अल्प आउखो बांधे	१		२६
१०—इन्द्रीवादी की ढ़ाल	१	७	४०
११—दान निचोड़ की ढ़ाल	१	४	३१
१२—चतुर विचार की ढ़ाल	२	५	२६६
१३—नन्दन मिणीयारको चौढ़ालियो	४	१९	७८
१४—दश दान की ढ़ाल	१	६	२६
१५—चरम जिन विनति	१		१४
१६—प्रतिमा पूजन ढ़ाल।	२		२४
१७—एकलरो चौढ़ालियो	४	२०	६७
१८—सुदर्शन सेठ को ान	४२	१९७	६९७
१९—उदाई राजा को बखान	७	३३	१००
२०—जम्बु कुँवर की चौपई	४	७	५७
२१—शील की नववाड़	११	४६	१६६
२२—अर्जुन माली को चौढ़ालियो	६	२७	५६
२३—ढ़ढ़ण मुनिको चौढ़ालियो	४	१५	४०
२४—कृष्ण बलभद्र की चौपई	१५	४३	१६०
२५—जिनरिख जिनपालको चौढ़ालियो	४	२८	५२
२६—जिनकल्पी साधु की ढ़ाल	१		१३
२७—नव पदार्थ सद्भाव निर्णय	१३	६६	६८४

२८—विनय विवेक की ढ़ाल	१	५	७५
२९—प्राणी समकित किण विधपाई रे	१	-	१६
३०—४२ दोष की ढ़ाल	१		३०
३१—साधु के इमत की ढ़ाल	१	५	४५
३२—पोथ्या पडिलेहण की ढाल	१	७	५१
३३—श्रावक नर्कगामी नथ कह्या /र	१	५	५७
३४—साधु नर्कगामी नथ कह्या /र	१	१०	२९
३५—सरस आहार की ढ़ाल	१	८	१३
३६—पाँचवे आरे का भाव	१	६	१४
३७—पाँचवे आरे का भाव	१	८	३१
३८—मर्यादा की ढ़ाल	१	९	३३
३९—साधु आचार की चौपई	११	४९	५००

४०—विनीत-अविनीत की चौपई

४१—बारह व्रत को लेखो

४२—कालवादी की चौपई

४३—टीकम डोसी प्रश्नोत्तर

४४—मिथ्यात्वी करनी अधिकार

४५—प्रव्यावादी की ढ़ाल

४६—पोत्याबंध की ढ़ाल

४७—टालोकड़ रास

४८—लिखत

४९—१८१ बोलकी हुंडी

५०—१३ द्वारा को थोकड़ो

५१—पाना की चर्चा

—ओं । ंत्तिस परिचय—

स्वामीजीने कुल ३८ हजारके लगभग गाथाओं ॐ की रचनाकी, ऐसा उल्लेख श्रीमद् जयाचार्य ने 'भिक्षु जस रसायन' नामक ग्रंथ में किया है। स्वामीजी के परम भक्त श्रावक शोभजी की एक ढालमें भी ऐसा ही उल्लेख है। मालूम होता है कि श्रीमद् जयाचार्य ने स्वामीजी के जीवन-चरित्र लिखनेके पूर्व स्वामीजीकी समस्त कृतियों को एक स्थान में कर लिया था अप्रकाशित होनेसे स्वामीजीकी समस्त कृतियोंको देखनेका सौभाग्य हमें न मिला। ३८ हजार पदोंकी संख्याका पूरा मिलान करना बहुत ही जरूरी है, जिससे कि स्वामीजी की कृतियाँ अक्षय रह सकें। हमतो अभी इस कार्य को अधूरा ही छोड़ते हैं। अब हम संक्षेपमें स्वामीजीकी कृतियोंका परिचय देते हैं

"साधु आचार की चौपई' और "१८१ बोलकी हुंडी" साधु आचार विषयक पुस्तक हैं। इनमें स्वामीजीने अपने समकालीन साधु ओंमेंआ घुसे दोषोंकी तीव्र आलोचना की है और साथ ही सच्चे साधु आचार और श्रद्धाका जैन आगमके

ॐ बत्तीस अक्षरोंके संकलनको एक गाथा या ग्रन्थाग्र गिना जाता है।

अनुसार निरूपण किया है। शिथिलाचारके प्रति उनके उग्र खिन्न भावनाओंका अन्दजा इन रचनाओंसे लगाया जासकता है।

"नव सद्भाव पदार्थ निर्णय" नामक पुस्तक में नव तत्वों का सूक्ष्म विवेचन है। द्रव्य जीव और भाव जीव, द्रव्य पुद्गल और भाव पुद्गल, पुण्य क्या है और उसका सचय कैसे होता है, आदि विषयों का जैसा तत्स्पर्शी ज्ञान और विवेचन इस ग्रंथ में है वैसा कम पुस्तकों में देखने में आता है। यह कहना कोई अत्युक्ति नहीं कि यह ग्रंथ अपनी कोटि का एक बेजोड़ ग्रंथ है।

"बारह व्रत की चौपई" श्रावकोपयोगी साहित्य का एक अमूल्य रत्न कही जा सकती है जिसमें श्रावक के व्रतों का बहुत सुन्दर ढंग से सरल-सुबोध भाषा में हृदयग्राही वर्णन है। व्रतों के अर्थ का विवेचन, आश्चर्यकारी मौलिकता और जिनागम के अपूर्व रहस्य से गर्भित है।

"शील की नव बाड" एक असाधारण उच्चकोटि की रचना है, जो एक संस्कारी ब्रह्मचारी की निर्मल लेखनी से ही प्रवहित हो सकती है। इसका एक एक शब्द और पद मनुष्य को ब्रह्मचर्य की उत्तमता की ओर आकर्षित कर हृदय को वैराग्य की धारा से परिप्लावित कर देता है।

सुदर्शन सेठ" मारवाड़ी भाषा की रागिनी पूर्ण गाथाओं में एक सरस काव्य है जिसमें एक पत्नि व्रती सुदर्शन सेठ के ब्रह्मचर्य पूर्ण जीवनका हृदयग्राही वर्णन है।

"जिनरिख जिनपाल के चौढालिये" में स्वामीजी ने व्रत अव्रतके अन्तरको बड़ा स्पष्ट कर दिया है और ग्रहण किये हुए व्रतों के नहीं पालनसे कैसी दुर्गति होती है यह दिखानेकी चेष्टा की है।

'अनुकम्पा की ढालें' में अहिंसा और दयाका अपूर्व वर्णन है। इनमें पद पद पर स्वामीजी के आगम शोधन और अनुशीलन की सतत् प्रवृत्ति का सुन्दर परिचय मिलता है। अहिंसा और दया का आगम अनुसार पर मौलिक वर्णन अन्यत्र दुर्लभ है और अहिंसा के एक अमर पुजारी की लेखनी से ही प्रथित हो सकता है।

"चतुर-विचार की ढालों', "दश दानकी ढाल" और 'दान निचोड़ की ढाल'में दान विषयका अंहिसा ही की तरह सूक्ष्म विवेचन है।

"समकित की ढाल" और श्रावक गुण सज्झाय" में सम्यक्त्व और आदर्श श्रावक के आधार भूत गुणोंका बड़ा ही सारगर्भित उपदेश है।

"विनीत-अविनीत की चौपई" में विनय और अविनयका भेद दिखाकर सच्चे देव-गुरु-धर्म के प्रति विनयभाव को जाग्रत करने की चेष्टा की है।

"इन्द्रीवादी की ढाल" में इन्द्रियाँ सावद्य नहीं, मनुष्य के भाव ही सावद्य निर्वद्य हाते हैं, यह दिखाया है और इन्द्रियों को वश मे करने का उपदेश दिया है।

"एकलरो चौढालियो" इस रचना में एकल विहारी साधु की तीव्र आलोचना है और इसमें जिन-आगम विपरीतता को छोड़ने की एक बलवान प्रेरणा है।

"तेरह द्वार के थोकड़े" में तेरह प्रकरण द्वारा जैन तत्वों के रहस्य को बहुत सुबोध रूप से समझाकर जैनागम रहस्य को सरल कर दिया है। यह थोकडा जैन गूढ तत्वों के समझने में एक चाबी की तरह है।

"जिन आज्ञाके चौढ़ालिये" में "आणाए णाणो आणाए तवो" सिद्धान्तकी सर्वोपरिता को सिद्ध किया है। जैन धर्म वही है, जिसका जिन भगवान ने परूपण किया और वही सदा शिरोधार्य है इस श्रद्धा को हृदयङ्गम कराने के लिए ही चौढ़ालिये की उत्पत्ति हुई है।

—शिष्य-सम्पदा—

श्रीमद् जयाचार्य ने अनेक जगह स्वामीजी को "भाग्यवली" कहा है और यह भी कहा है "उन्हें उदार संयोग प्राप्त हुआ"। स्वामीजीको कितनी विकट परिस्थितियों में से गुजरना पड़ा था, यह पाठक पहले देख चुके हैं। ऐसी हालत में स्वामीजी के सम्बन्ध मे उपरुक्त वाक्योंका प्रयोग कुछ बेडब-सा लगता है। पर जब हम स्वामीजी के शिष्य-समुदाय पर दृष्टि डालते हैं, तो हमें इस वातमें

सन्देह नहीं रहता कि वे निश्चय ही बड़े भाग्यशाली थे और उन्हें गुणवान शिष्योंका अपूर्व संयोग प्राप्त हुआ था।

स्वामीजी ने अपने जीवन काल में ४८ साधु और ५६ साध्वियों को दीक्षित किया। जिनमें से २८ साधु और ३९ साध्वियों ने जीवन पर्यन्त उनकी अधिनता में साधुत्व का पालन किया। अवशेष साधु साध्वियों में से कई अपनी असमर्थता से दूर हो गये कई चरित्र की त्रुटियों के कारण अलग कर दिये गये। स्वामीजी के कठोर अनुशासन में केवल पवित्र आत्माओं को ही स्थान था। जो एकान्त आत्मार्थी थे वहा उनके चरणों की सेवा में रह सके।

स्वामीजी की शिष्य मंडली में बड़े ही तपस्वी धर्ममूर्ति ज्ञानी, गुणवान वैरागी और भद्र प्रकृति के साधु थे। उनके साधुओं का जीवन बड़ा ही निर्मल और निष्कलङ्क था। इस दृष्टि से निश्चय ही वे बड़े भाग्यशाली थे।

यहाँ स्वामीजी के शिष्यों का कुछ वर्णन दे देना अप्रासंगिक न होगा —

[१] मुनि थिरपालजी व वही संत थे जिनकी प्रेरणासे स्वामीजीने धर्म प्रचार का कार्य प्रारम्भ किया। स्वामीजी ने इनको दीक्षा में अपने से बड़ा रक्खा और आचार्य होने पर भी विधिपूर्वक रोज उन्हें वंदना करते। ये बड़े ही तपस्वी वैरागी और विनयवान सन्त थे। शीतकाल में पछेवड़ी—परिधान दूर कर शीत सहन करते और गर्मी और वर्षा में इसी तरह अन्य अनेक तप करते। श्रद्धा के ये साकार स्वरूप थे। स्वामीजी के प्रति उनकी अगाढ़ भक्ति थी। जयाचार्य ने कहा है— 'उनकी तपस्या का वर्णन कायरों के हृदय में भय का संचार कर, उन्हें कम्पित कर देने वाला है। वीरों के हृदय में वह अत्यन्त हर्ष और पौरुष जगाने वाला है।' इनका स्वर्गवास सं० १८३२ में खेरवे शहर में हुआ। इस वर्ष चातुर्मास के चार महीनों में आपने केवल १४ दिन ही आहार किया आपको जयाचार्य ने 'धर्म मूर्ति' कह कर सम्बोधित किया है।

[२] मुनि फतेहचन्दजी ये साधु थिरपालजीके पुत्र थे। निराभिमानी

इन्हें भी दीक्षा में अपने से बड़ा रक्खा। अपने पिता की तरह इन्होंने भी स्वामीजी को धर्म-प्रचार करने की प्रेरणा दी थी। ये भी बड़े फक्कड़ साधु थे और पिता की ही तरह बड़े तपस्वी थे। एक बार इन्होंने ३७ दिन की तपस्या की और पारणा के दिन बाजरी की ठंडी घाट मिली, उसी से सन्तोष पूर्वक आहार किया। इस कारण से उनका स्वर्गवास हो गया। पिता और पुत्र दोनों वृद्ध होने पर भी उन्हें अपनी वयोवृद्धता का जरा भी मान नहीं था। जब कोई उनसे प्रश्न पूछता तो यही कहते—"स्वामीजीसे पूछो। जो वे कहें, वही ठीक है।"

[३] मुनि टोकरजी : ये बड़े ही विनयवान सन्त थे और स्वामीजी की बड़ी भक्तिभाव से सेवा करते थे। स्वामीजीके बड़े विश्वास-पात्र थे। आपने सलेखणा कर बगड़ी शहर में स्वर्गारोहण किया।

[४] मुनि हरनाथजी : ये भी बड़े विनयवान सन्त थे और स्वामीजी की सेवा में हर समय हाजिर रहते थे। आपने ढूंढाड़ देश में संथारा कर स्वर्ग प्राप्त किया।

[५] भारीमालजी : आपका जन्म मेवाड़ के मूहो ग्राम में सम्वत् १८०३ में हुआ था। आपकी दीक्षा मारवाड़ के केलवे ग्राम में हुई थी। आप ही द्वितीय आचार्य हुए। स्वामीजी ने सं० १८३२ में ही इन्हें युवराज पदवी से विभूषित किया और साधु-साध्वियों को उनकी आज्ञा पालन करने और उनके नाम से दीक्षा देने का हुकुम फरमाया था। साधु भारीमालजी बचपन से ही कितने गुणवान और धर्म-दृढ थे यह पहले दिखाया जा चुका है। आप बड़े सौम्यमूर्ति साधु थे। अन्त समय में स्वामीजी ने अपने मुखारविंद से उनकी प्रशसा की और शुद्ध संयम-पालन में उनका कितना सहयोग रहा, यह बतलाया था। आपने अपने शासन-काल में ३८ साधु और ४४ साध्वियों को दीक्षा दी। आप बड़े प्रतापी आचार्य थे। आप बाल ब्रह्मचारी थे। आपका देहान्त ७५ वर्ष की अवस्था में मेवाड़ के राजनगर ग्राममें मिती माघ बदी ८ स० १८७८ को हुआ था। अन्त समय में आपको ९ पहर का अनशन आया।

[६] मुनि अखयरामजी : आपने बावीस सम्प्रदायसे निकल स्वामीजी के पास चारित्र ग्रहण किया और स्थिर चित्त से अन्त तक संयम का पालन किया। आपने अन्त में ३६ दिन की तपस्या की।

[७] मुनि सुखारामजी आप लोहावटके वासी थे और धर्म से पोत्याबंध थे। इनको स्वामीजी ने प्रतिबोधित किया। इनकी मुखमुद्रा देवमूर्ति सी लगती। इनकी धारणा शक्ति बड़ी निर्मल थी। प्रकृति सौम्य और सुहावनी थी। इनको अन्त में २५ दिन का अनशन आया। इनका स्वर्गवास १८६२ में हुआ।

[८] मुनि शिवजी आप बड़े सुविनीत साधु थे। अन्त समय में पंडित मरण कर स्वर्ग सिधाए।

[९] मुनि नगजी आपका जन्म स्थान कुड़्या था। आप भी अन्तमें संथारा कर स्वर्ग सिधारे।

[१०] मुनि स्वामजी आप पदीके वासी थे। जाति के सरावगी थे। आपके छोटे भाइ का नाम रामजी था। स्वामजी और रामजी दोनों यमज थे। आपकी दीक्षा रामजी की आज्ञासे केलवेमें हुइ। आपका अन्तस्थल बड़ा ही निर्मल था। आपका देहावसान सं० १८६५ में पाली में हुआ। देहान्त के दिन आपके उपवास की तपस्या थी।

[११] मुनि खेतसीजी ये श्रीजीद्वारके निवासी थे। इनके पिताजी का नाम शाह भाराजी था। आपके दो विवाह हुए। दूसरी पत्नी का भी देहान्त हो गया। आपके पिताजी ने आपका तीसरा विवाह करना चाहा पर आपकी जरा भी इच्छा न थी। आपकी दो बहिनें रावलिये विवाही गइ थीं। वहां जाकर आपने बहिन-बहनोइ को दीक्षा के लिए पिता से आज्ञा दिलवाने के लिए अनुरोध किया। आपके मन में संसार से वैराग्य हो गया था और आप साधु होना चाहते थे। व्यापार करते समय भी आप सामयिक मन पूर्वक पालते। आप अपने पिता के इतने विनयी थे कि मन में दीक्षा की तीव्र इच्छा होने पर भी संकोच वश अपने पिता से आज्ञा नहीं मांग सकते

थे। इसी बीच भोपजी शाह ने सुना की रंगुजी सती की दीक्षा हो रही है, तब उन्होंने खेतसीजी से पूछा : "क्या तुम्हारी भी दीक्षा लेने की इच्छा है ?" खेतसीजी ने हाथ जोड़ कर विनयपूर्वक कहा— "हां, मैं दाक्षा लेना चाहता हूं। मुझे संसार से विरक्ति हो गई है। आप आज्ञा दें, तो दीक्षा लूँ"। यह सुनकर शाह भोपजी ने दीक्षा की अनुमति दे दी और रगुजी के साथ ही खेतसीजी का दीक्षा महोत्सव किया गया। आपकी दीक्षा स० १८३८ में स्वामीजी के हाथ से हुई। श्रीजीद्वार से विहार कर जब स्वामीजी इनके साथ कोठारे पहुंचे तो पीछे भोपजी का देहान्त हो गया। खेतसीजी बड़े ही विनीत साधु निकले। जब कभी स्वामीजी इन्हें किसी कार्य की आज्ञा देते, तो वे हाथ जोड़ कर तुरन्त उसे करने के लिए हाजिर रहते। जब कभी स्वामीजी इन्हें कोमल-कठोर शिक्षा देते तो ये उसे शान्ति से हर्षपूर्वक ग्रहण करते और इनके मुख से केवल 'तहत्‌वचन' ही निकलता। स्वामीजी जैसे कठोर अनुशासन-प्रिय आचार्य को अपनी सेवाओं से प्रसन्न रखना एक मामूली बात न थी और वह एक अन्तरग भक्ति—भाव की परिचायक थी। स्वामीजीने इनका नाम "सतयुगी" रखा था। उनकी प्रकृति सतयुगी पुरुष की तरह विनयी एव निर्मल थी। जयाचार्य ने इनके लिए "गण-आधार" विशेषण प्रयुक्त किया है। आप बड़े तपस्वी थे और अनेक बार पाँच-पाँच के थोकड़े किये और ऊपर में १९ दिन की तपस्या की, जिसमें केवल एक बार जल पीने की छूट रक्खी थी। एक पहर खड़े रहने की तपस्या आपने अनेक वर्षों तक की। शीत और उष्ण की तपस्या भी आपने की। आपने बावीस वर्ष तक स्वामीजी की सेवा की और द्वितीय आचार्य भारीमालजी के साथ १८ वर्ष रहे। आ० भारीमालजी के बाद सलेखणा—संथारा कर १८८० में स्वर्ग सिधारे। आप इतने गुणवान थे कि श्रीमद् जयाचार्यने आपका एक अलग जीवन चरित्र लिखा है।

[१२] मुनि रामजी : आप भी बड़े सरल साधु थे और सयम-पालन में बड़े निपुण थे। आपका देहान्त इन्दुगढ मे १८९० मे हुआ। देहावसानके दिन आपके चार दिन के उपवास की तपस्या थी।

[१३] मुनि मानजी आप जाति के बोहरे थे। आपका ग्राम बरल्या था। आपने १८४१ में दीक्षा ली और स्वामीजी के बाद १८७१ साल में तेले की तपस्या में आपका देहान्त हुआ।

[१४] मुनि नेमजी आप रोयट के निवासी थे। आपने स्वामीजी से दीक्षा ली और बहुत वर्षों तक संयम का पालन किया। आपने नैणवे शहरमें संथारा किया और स्वर्ग सिधारे।

[१५] मुनि वेणीरामजी आपकी दीक्षा १८४४ में हुई थी। आपको स्वामीजी ने दीक्षा दी थी। आपने बड़े ही निष्कलंक रूप से चारित्र का पालन किया। आप बगड़ी के वासी थे। आप बड़े ही प्रबल पण्डित और चर्चावादी सन्त निकले। आपने बड़ी ख्याति प्राप्तकी। आप व्याख्यान बहुत ही सुन्दर देते और उनमें मौलिक दृष्टान्तों की भर मार रहती। आपके वचन श्रोता को बड़े मधुर लगते और आपके उपदेश से श्रोता चमत्कार को प्राप्त होते। आपने मालवा जा वहाँ धर्म-चर्चा कर अनेक जनों को प्रतिबोधित किया। आपकी बड़ी धाक पड़ती। आपके शब्दों में केशरी सिंहकी सी गूंज थी। आपकी बुद्धि बड़ी उदार और उत्पादक थी। आपने अनेकों को संयम दिया और धर्म वृद्धि करने में बहुत सहायक हुए। आपका स्वर्गवास स्वामीजी के बाद हरचेसर शहर में १८७० की सालमें हुआ।

[१६] मुनि वर्द्धमानजी आप कोटे के दौलतरामजी के टोले के साधु थे और उनके टोले से निकल कर स्वामीजी के संघ में दीक्षित हुए। इस तरह से पवित्र मार्ग में आ आपने अपना जन्म सुधारा। एक बार आप विचरते विचरते ढूंढ़ाड़ देश में आये और लू लगने के कारण बिमार हो गए। अन्तमें संथारा ठा दिया और स्वर्ग सिधारे।

[१७] मुनि सुखजी आपको स्वामीजीने दीक्षा दी। आप टुगलके निवासी थे। आप बड़े गुणवान और सुखनी थे। आपने अन्त समय में अनशन किया। आपको एक दिनका संथारा आया। आपका देहान्त सम्वत् १८६४ में स्वामीजीके बाद स्वर्गमें हुआ।

(१८) मुनि हेमराजजी: आपका जन्म सम्वत् १८२९ की सालमें शिरियारी गाँव में हुआ था। आप ओसवाल थे। आप अमरोजी बागरेचा के सुपुत्र थे। आपकी माता का नाम सोमाजी था। जब मुनि हेम उदरस्थ हुए तब सोमाजी ने देव विमाण देखा। सोमाजी के सन्तान जीती न थी। उन्होंने हाथ जोड़ कर विनती की "मेरे सन्तान जीती नहीं।" उन्हें वापिस उत्तर मिला: "तुम्हारी दो सन्तानें जीवित रहेंगी।" यह स्वप्न देख कर सोमाजी खूब हर्षित हुईं। स्वप्न के अनुसार ही उन्हें बड़ा पुण्यवान पुत्र प्राप्त हुआ। हेमराजजी का जन्म माह शुक्ल १३ शुक्रवार के दिन पुख नक्षत्र में हुआ था। उस समय आयुष्मान् योग था। आप के एक छोटी बहिन भी हुई, जिनका नाम रत्तुजी था। आप बचपन से ही धर्म से प्रेम रखते थे। आप साधु सन्तों की प्रेमभाव से सेवा करते और रोज सामायिक करते। अन्तःकरण से बड़े पाप-भीरू थे। १५ वर्ष की बाल अवस्था में ही आपने पाप भय से परनारी का त्याग किया। आप धर्म-चर्चा में बड़े प्रखर थे। आपकी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण, तत्पर तथा हाजिर-जवाब थी। कण्ठ बड़े मधुर और सुरीले थे। गृहस्थावस्था में भी आप व्याख्यान देते और लोगों को धर्मध्यान की ओर आकर्षित करते। आप व्यापार के लिए पाली, भिलाड़े आदि स्थानों को जाते तो वहाँ भी श्रावकों को समझा उन्हें व्रत आदि ग्रहण करने को प्रेरित करते। आप इतने निर्भीक थे कि विपक्षी साधुओं के स्थानकों में जाकर उन से चर्चा कर उन्हें परास्त करते। हेमराजजी के ये गुण देख कर स्वामीजी उनके प्रति बड़े ही आकर्षित थे। हेमराजजी का भी विचार दीक्षा लेने का था पर विचार-विचार में ही उन्होंने ३ वर्ष निकाल दिए। आपकी इच्छा, विवाह कर, कुछ वर्ष घर में रह, फिर दीक्षा लेने की थी। पर आखिर में सम्वत् १८५६ की साल दीक्षा लेने का पक्का विचार ठान लिया। और स्वामीजी से यावज्जीवन विवाह न करने का नियम ले लिया।

हेमराजजी के गुणों से स्वामीजी इतने आकर्षित थे कि जब उन्होंने दीक्षा के पूर्व साधु-प्रतिक्रमण सीखना शुरू किया तब ही भारीमालजी से बोले: "अब तुम

निश्चिन्त रह सकोगे। आगे मैं था और अब तुम्हारे लिए यह हेम है। जब कभी धर्म-चर्चा का काम पड़े तो हेम को तैयार समझना।"

हेमराजजीने गृहस्थावस्था में ही माघ सुदी १५ सं० १८५२ के बाद छः काय जीवों की हिन्सा करने का त्याग कर दिया था। उनकी दीक्षा के लिए माघ सुदी १३ का दिन नियत किया गया। उनके बड़े बाप के बेटे ने रावले में शिकायत की—'भीखणजी हेमराज को ओर जबरन दीक्षा देना चाहते हैं।" स्वामीजी को गाँव में न रहने की आज्ञा दी गई।

गाँव के पच हेमराजजी का साथ ले ठुकराणीजी के यहाँ गये। हेमराजजी ठुकराणी के पास पहुँचे और दीक्षा लेने की आन्तरिक भावना दिखाई। हेमराजजी देखनेमें बड़े ही रूपवान थे। वस्त्रों और गहनों से सुसज्जित होने से वे और भी सुन्दर लग रहे थे। ठुकराणीजी ने कहा : "मैं अभी तुम्हारा विवाह कराए देती हूँ।" हेमराजजी बोले 'आपको पाणि-ग्रहण करवाने से इतना प्रेम है तो गाँव में कुँवारे और भी बहुत हैं। मैं तो विवाह न करने का नियम ले चुका हूँ।" इतना कह वे वहाँ से उठ स्वामीजी के पास आ गए। ठुकराणीजी ने हेमराजजी की अन्तरस्थ वैराग्य भावना को देख कर स्वामीजी पर लगाए हुक्म को हटा लिया।

दीक्षा के समय हेमराजजी की अवस्था २४ वर्ष की थी। पूर्ण युवावस्था में सम्पूर्ण भोगों को तिलाञ्जलि दे आपने धर्म-मार्ग पर अपने को न्योछावर कर दिया। आपकी दीक्षा शिरियारी में एक विशाल बड़ वृक्ष के नीचे हुई और उस समय हजारों लोग देखने आए। आपकी दीक्षा १८५३ के माघ शुक्ला त्रयोदसी बृहस्पतवार के दिन हुई। उस समय पुष्य नक्षत्र और आयुष्मान् योग था।

मुनि हेमराज जी बड़े ही उद्योत कारी पुरुष हुए। श्रीमद जयाचार्य ने आपके लिए "जिन—शासन का स्तम्भ" विशेषण लगा कोई अत्युक्ति नहीं की परन्तु उनकी महत्पुरुषता को ज्यों-की-त्यों नपे-तुले शब्दों में ही अभिव्यक्ति दी है। जब हम मुनि हेमराज जी के जीवन पर दृष्टि डालते हैं तो वे एक महान गणधर से

लगते हैं जिन्होंने स्वामीजी के संदेश को एक कोने से दूसरे कोने तक पहुंचाया। एक बहुश्रुती तपस्वी, एक विराट् योगी, एक वैरागी सन्यासी, एक ज्ञानी मुनि और पुरुषार्थी आत्मार्थी के रूप में उनके दर्शन होते हैं।

चतुर्थ आचार्य पूज्यपाद जयाचार्य के आप विद्यागुरु रहे। उनके निर्माण का सारा श्रेय आप ही को था। श्रीमद् जयाचार्य ने "हेम नवरसो" में आपके जीवन चरित्र पर बड़ा सुन्दर प्रकाश डाल, अपनी आन्तरिक कृतज्ञता प्रगट की है। आपने कितने साधु सतों को पण्डित किया, कितनी दीक्षाएं दीं और कितने लोगों को श्रावक बना सच्चे धर्म का प्रकाश किया—आदि बातों को जब सोचें तो वास्तव में आप को स्वामीजी के मार्ग का आधारपुरुष कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं। श्रीमद् जयाचार्य कहते हैं :

"उपशम सम दम शील में हो, हेम सरीखा सन्त ।
चौथे आरे पिण विरला होसी हो, साध महा गुणवन्त ॥"

आपका स्वर्गवास सम्वत् १९०४ के वर्ष मे जेठ सुदी २ के सुवह शिरियारी मे हुआ। आपने साधु जीवन में ५१ वर्ष तक विहार किया।

[१६] मुनि उदयरामजी : आप जाति के चपलोत थे और केलवा के निवासी थे। आप बडे ही तपस्वी सन्त निकले। आपकी दीक्षा पाली में १८५५ की साल मे स्वामीजी के हाथ से हुई थी। आपने बड़े ही उमगके साथ आंबिल तप किया। दिन-दिन चढते वैराग्य से उसे ४२ ओली तक चढ़ा दिया। छठ-छठ आदि और भी अनेक तप आपने किये। आपने ८४१ आम्बिल किये। आप आचार्य भारीमालजी के बरतारे मे स० १८६० मे सथारा कर चेलावास मे स्वर्ग सिधारे।

[२०] ऋषि रायचन्दजी : आपकी दीक्षा स०१८५७ में रावलियां ग्राम मे हुई थी। आप जाति के बम्ब थे। आपके पिताजी का नाम चतरोजी शाह था। आपने दीक्षा ली उस समय आपकी अवस्था लगभग ११ वर्ष की थी। आपका वर-घोडा हाथी के हौदे पर निकाला गया था। आपके साथ आपकी माता कुशलाज

ने भी दीक्षा ली। चैत सुदी १५ के दिन दीक्षा हुई। आपकी बुद्धि बड़ी प्रखर थी। आप बड़े गुणवान और पुण्यवान थे। यह देख कर स्वामीजी ने फरमाया—" यह पुण्यवान बालक तो आचार्य-पद के योग्य है "। ऋषि रायचन्दजी बड़े ही सौम्य-मूर्ति थे। आपकी मुद्रा बड़ी ही हँसमुख थी। स्वामीजी ने आपको आगे से ही तृतीय आचार्य पद के लायक घोषित कर दिया था। इसी से समझा जा सकता है कि यह बालक सत कितना तेजस्वी और प्रतिभा सम्पन्न था। अन्त समय में आपने स्वामीजी को कितना सहारा दिया, इसका वर्णन एक जगह ऊपर आ चुका है। आप भारीमालजीके लिए 'भुजागल' की तरह थे। आपने भारीमालजी की आज्ञा ले, सब प्रथम १८६९ की साल में जीतमलजी महाराज को दीक्षा दी, जो आगे जाकर चतुर्थ आचार्य पद के स्वामी हुए। ऋषि रायचन्दजी ने अन्त समय में भारीमालजी को बड़ा ही सहारा पहुँचाया। आप बड़े ही उद्योतकारी आचार्य हुए। साधु रतनजी सांसारिक हिसाब से आपके मामा थे। जैसे ही प्रकाशकारी पुरुष आचार्य भीखणजी थे, वैसे ही प्रकाशकारी शिष्य भी उनके पास आ जुटे। आपने अपने शासन काल में ७७ साधु और १६८ साध्वियों को दीक्षित किया। आपका देहान्त ६२ वर्ष की उमर में माघ वदी १४ सं० १९०८ को रावलिया में हुआ। आपने स्वामीजी श्री जीतमलजी को भावी आचार्य मनोनीत किया।

[२१–२२] मुनि ताराचन्दजी आपकी दीक्षा सं० १८५७के जेठ मासमें हुई। आप के पुत्र डूंगरसीजीने भी दीक्षा ली। ताराचन्दजी ने अपनी स्त्री को छोड़ कर और डूंगरसी जी ने सगाई छोड़ दीक्षा ली थी। दोनों ही सन्त बड़े वैरागी थे। स्वामीजी के देहान्त के बाद दोनों ने संथारा कर जन्म को सार्थक किया। ताराचन्दजी को ४१ दिन का और डूंगरसीजी को १० दिन का संथारा आया।

[२३] मुनि चन्दोजी आप सामूल निवासी थे। आपने बरल्या में दीक्षा ली। आप एक महान मुनि निकले। आप एक सरल और भद्र प्रकृतिके साधु थे।

आपने तीन आचार्यों की सच्चे मन से सेवा की और ऋषि रायचन्दजी के वरतारे में १८९० की साल में गोगुन्दा में अनशन कर देहावसान किया।

[२४] मुनि जोगीदासजी : आप बडे ही जबरदस्त मुनि हुए। आपने स्त्री छोड़ कर दीक्षा ली थी। बचपन से ही आप बड़े वैरागी थे और यही देखकर स्वामीजी ने दीक्षा दी। आप केलवा के निवासी थे। आप अपने नाम की तरह ही एक सच्चे योगी थे। दीक्षा के थोड़े ही काल बाद शहर पीसागण में चौविहार सथारा (जिसमें सर्व प्रकार के आहार और जल का आजीवन त्याग हो) ठा दिया और सम्वत् १८५९ की साल में आत्मा का उद्धार कर, मनुष्य जन्म को सार्थक बनाया।

[२५] मुनि जोधोजी : आप केरड़ा ग्राम के निवासी थे। स्वामीजी ने स्वयं अपने हाथ से इन्हें दीक्षा दी थी। ये बडे ही तपस्वी सन्त निकले। आपने आछ के आगार से ढाई मास की तपस्या की और कोचले ग्राम में ३८ दिन का संथारा कर स्वामीजी के देहान्त के बाद स्वर्गलोक सिधारे। स्वामी जोधोजी वास्तव में ही एक योद्धा थे, जिन्होंने कर्म-रूपी शत्रुओंको काटकर अपनी माताकी कोखको उज्वल किया।

(२६) मुनि भगजी : आप शहर खेरवा के निवासी थे। स्वामीजी ने आपको आपकी बड़ी बहिन की आज्ञा से दीक्षा दी। विनय गुण से आपकी बहुत शोभा हुई। आप जाति के वैद मुहता थे। आपने प्रथम तीन आचार्यों की बड़ी भक्ति-भाव से सेवा की। ऋषि रायचन्दजी के वरतारे में आप पण्डित-मरण प्राप्त हुए। आपका देहावसान सं० १८९९ में हुआ।

(२७) तपस्वी भोपजी : आप कोशीथल के वासी थे। आप जाति के चपलोत थे। आपको स्वामीजी ने पाली में दीक्षा दी। दीक्षा लेने के बाद ही आपने तपस्या करनी शुरू कर दी। धीरे २ चढाते २ आपने ६६ और ६८ दिन तक की तपस्या की। एकबार चतुर्मासमें आपने केवल १७ पारणे ही किये। आपका देहान्त १८६६ की साल हुआ। आपको साढे चार पहर का संथारा आया।

स्वामीजी के शिष्यों का परिचय शेष हुआ। अब हम सक्षेप में आर्याओं का परिचय देते हैं —

[१] सती कुशालांजी॰ आप सतियों में सबसे बड़ी सती थीं। आपने बड़े ही शुद्ध रूप से सयम का पालन किया। एक बार आप गुन्दोच में विराजती थीं। वहां एक जहरीले जानवर ने आपको डस लिया। आपने कोई उपचार नहीं करवाया और शान्त भाव से इस उपसर्ग को सहन किया। आपके परिणाम बड़े उच्च रहे।

[२] सती मटुजी आप एक महान् सती थीं। आपने स्वामीजी की आज्ञा को शिरोधार्य कर आराधक पद पाया।

[३] सती सुजाणांजी आप एक बड़ी निर्मल सती थीं। आपने शुद्ध चारित्र का पालन किया।

[४] सती देऊजी॰ आप भी एक पुण्यवान सती थीं।

[५] सती गुमानांजी आपने अन्त समय में संथारा कर सयम को उज्वल किया।

[६] सती कसुम्बाजी॰ आपने भी उदार—दीर्घ अनशन कर देह विसर्जन किया।

[७] सती जीऊजी आपने अनेक पुत्रों को घर में छोड़ दीक्षा ली थी। आप रियां की निवासिनी थीं। दीक्षा लेने के थोड़े दिन बाद ही शहर पीपाड़ में संथारा कर आपने अपना कार्य सिद्ध किया।

[८] सती मैणांजी॰ आप पुर की निवासिनी थीं। आपने पति छोड़ कर दीक्षा ली थी। आप पढ़ लिख कर बहुत पंडिता हुई—बहु सूत्रों की जानकार हुई। आपने सं॰ १८६० की साल में संथारा किया।

[९] सती रंगुजी॰ आप भीजैद्वार की निवासिनी थीं। जाति की पोरवाल थीं। आपने सं॰ १८३८ में स्वामी खेतसीजी के साथ दीक्षा ली। आप ज्ञानी ध्यान में विख्यात थीं। आपका स्वर्गवास सिरीयारी में हुआ।

[१०] सती सदांजीः आप भी एक महासती थीं। आपकी जाति तलेसरा थी। आपका ग्राम श्रीजीद्वार था। आपने अन्त समय में संथारा कर आत्म-कल्याण किया।

[११] सती फुलाँजी : आपने अपने अनेक पुत्रों को छोड़ दीक्षा ली। आपका ग्राम कंटालिया था। आपने लोढोती में अनशन किया।

[१२] सती अमराँजी : आप एक उत्तम आर्या थीं। आपने अन्त समय में संथरा कर मनुष्य जन्म को जीत लिया।

[१३] सती तेजूजी : आप पोरवाल थीं। आपका ग्राम ढोलकम्बोल था। आपने दीक्षा के कुछ दिनों बाद ही संथारा ठा दिया। आपको ४२ दिन का संथारा आया।

[१४-१६] सती बगतुजीः आपका गांव बगड़ी था। आप, सती हीराँजी और सती नगांजी तीनों ने एक साथ दीक्षा ली थी। सं० १८४४ सालमें स्वामीजी ने दीक्षा दे, इन तीनों सतियों को सती रंगुजी को सौंप दिया। स्वामी भीखणजी के बाद तीनों सती सथारा कर परलोक सिधारीं।

[१७] सती अजबुजीः आप जयाचार्य को बूआ थीं। आपने १८४४ साल में चारित्र लिया। सम्वत् १८८८ में आप परलोक सिधारीं।

[१८] सती पन्नांजी. आपका जन्म-स्थान शिरीयारी था। अन्त समय में सथारा कर आपने पडित-मरण प्राप्त किया।

[१९] सती गुमानाँजीः आप एक महा गुणवान सती थीं। आपका ग्राम तासोल था। आप जीवोजी मुनि की वड़ी माँ थीं। आपने एक मास की तपस्या धारण की और फिर दो मास की तपस्या का विचार ठान लिया। आखिर में संथारे में आपका देहान्त हुआ।

[२०] सती खेमाँजीः आपका गाव बूंदी शहर था। आप जाति से सरावगी थीं। आपने खेरवे में सन्थारा ठान जन्म सुधारा।

[२१] सती रूपांजी : आप साधु 'सतयुगी' की बहिन थीं और ऋषि रायचन्दजी

स्वामीजी के शिष्यों का परिचय शेष हुआ। अब हम संक्षेप में आर्याओं का परिचय देते हैं :—

[१] सती कुशलांजी आप सतियों में सबसे बड़ी सती थीं। आपने बड़े ही शुद्ध रूप से संयम का पालन किया। एक बार आप कुदोच में विराजती थीं। वहाँ एक जहरीले जानवर ने आपको डस लिया। आपने कोई उपचार नहीं करवाया और शान्त भाव से इस उपसर्ग को सहन किया। आपके परिणाम बड़े उच्च रहे।

[२] सती मटुजी आप एक महान् सती थीं। आपने स्वामीजी की आज्ञा को शिरोधार्य कर आराधक पद पाया।

[३] सती कुआंजी आप एक बड़ी निर्मल सती थीं। आपने शुद्ध चारित्र का पालन किया।

[४] सती देऊजी आप भी एक गुणवान सती थीं।

[५] सती गुमानांजी आपने अन्त समय में संथारा कर संयम को उज्वलित किया।

[६] सती कसुम्बाजीः आपने भी उदार—दीर्घ अनशन कर देह विसर्जन किया।

[७] सती जीऊजी आपने अनेक पुत्रों को घर में छोड़ दीक्षा ली थी। आप रियां की निवासिनी थीं। दीक्षा लेने के थोड़े दिन बाद ही शहर पीपाड़ में संथारा कर आपने अपना कार्य सिद्ध किया।

[८] सती मैणांजी आप पुर की निवासिनी थीं। आपने पति छोड़कर दीक्षा ली थी। आप पढ़ लिख कर बहुत पंडिता हुई—बहु सूत्रों की जानकार हुईं। आपने सं० १८६० की साल में संथारा किया।

[९] सती रंगुजीः आप श्रीजीद्वार की निवासिनी थीं। जाति की पोरवाल थीं। आपने सं० १८३८ में स्वामी खेतसीजी के साथ दीक्षा ली। आप ज्ञानी ध्यान में विख्यात थीं। आपका स्वर्गवास सिरीयारी में हुआ।

[१०] सती सदांजीः आप भी एक महासती थीं। आपकी जानि तलेसरा थी। आपका ग्राम श्रीजीद्वार था। आपने अन्त समय में संथारा कर आत्म-कल्याण किया।

[११] सती फुलाँजी : आपने अपने अनेक पुत्रों को छोड़ दीक्षा ली। आपका ग्राम कंटालिया था। आपने लोढोती में अनशन किया।

[१२] सती अमराँजो : आप एक उत्तम आर्या थीं। आपने अन्त समय में संथरा कर मनुष्य जन्म को जीत लिया।

[१३] सती तेजूजी : आप पोरवाल थीं। आपका ग्राम ढोलकम्बोल था। आपने दीक्षा के कुछ दिनों बाद ही संथारा ठा दिया। आपको ४२ दिन का सथारा आया।

[१४-१६] सती वगतुजीः आपका गांव वगड़ी था। आप, सती हीराँजी और सती नगांजी तीनों ने एक साथ दीक्षा ली थी। सं० १८४४ सालमें स्वामीजी ने दीक्षा दे, इन तीनों सतियों को सती रंगुजी को सौंप दिया। स्वामी भीखणजी के वाद तीनों सती सथारा कर परलोक सिधारीं।

[१७] सती अजवुजीः आप जयाचार्य की बूआ थीं। आपने १८४४ साल में चारित्र लिया। सम्वत् १८८८ में आप परलोक सिधारीं।

[१८] सती पन्नाँजोः आपका जन्म-स्थान शिरीयारी था। अन्त समय में सथारा कर आपने पंडित-मरण प्राप्त किया।

[१९] सती गुमानाँजीः आप एक महा गुणवान सती थीं। आपका ग्राम तासोल था। आप जीवोजी मुनि की वड़ी माँ थीं। आपने एक मास की तपस्या धारण की और फिर दो मास की तपस्या का विचार ठान लिया। आखिर में संथारे में आपका देहान्त हुआ।

[२०] सती खेमाँजीः आपका गाव वूंदी शहर था। आप जाति से सरावगी थीं। आपने खेरवे में सन्थारा ठान जन्म सुधारा।

[२१] सती रुपाँजो : आप साधु 'सतयुगी' की वहिन थीं और ऋषि रायचन्दजी

की मौसी। आपने पति और पुत्र दोनों को छोड़ दीक्षा ली। आपकी दीक्षा १८५२ की साल हुई ओर १८५७ में आपने सथारा किया। आप कुशलांजी की छोटी बहिन थीं।

[२२] सती सरूपांजी· आप जाति से अग्रवाल थीं। माधोपुर की रहने वाली थीं। आपने तीन पुत्रों को छोड़ कर दीक्षा ली और कंटालिया ग्राममें सथारा किया।

[२३] सती वरजुजी· आप बड़ी यशस्विनी सती थीं। आप बड़ी शीलवान और गुणवान सती हुईं। स्वामीजी ने आपका मान बहुत बढ़ाया। आपने बड़ी कीर्ति प्राप्त की।

[२४] सती बीजांजी· आप बड़ी तपस्विनी थीं। अपने जीवनान्त में आपने बड़ा कठोर तप किया।

[२५] सती बनांजी आप बड़ी विनयवान सती थीं। आपका चित्त बड़ा निर्मल था। आपने शुद्ध संयम का पालन कर आत्मा को उज्वल किया। स्वामीजीने सती वरजुजी बीजांजी और बनांजी तीनों को एक ही साथ प्रतिबोधित कर एक ही दिन दीक्षा दी। तीनों सतियाँ बड़ी ही सौम्य मुद्रा थीं। अन्तमें तीनों ने संथारा कर आत्म कल्याण किया।

[२६] सती उदांजी· आप बड़ी उद्यमवान सती थीं। आप जातिकी सुनार थीं। आपने अनेक वर्षों तक चारित्र का पालन कर अन्त में आमेट में संथारा कर अपने जन्म को सार्थक किया।

[२७] सती जुमांजी· आपकी जाति पोरवाल थी। आपका गांव थीजीद्वार था। आपकी दीक्षा १८५६ में हुई। सं० १८६० की साल में स्वामीजी के देहान्त के बाद आपने संथारा कर देह-विसर्जन किया।

[२८] सती हस्तुजी आप जाति से लोढ़ा साजन थी। आपने पति और पुत्र को छोड़ दीक्षा ली। आप लखपति घराने की थीं। आपके घर वालों ने आपको बहुत दुःख दिया परन्तु आप दीक्षा लेने के विचार में अडिग रहीं। आपको सं० १८९७ में संथारा आया।

[२९] सती कुशलांजीः आपका गांव राबलिया था। आप साधु खेतसीजी की बहन और ऋषि रायचन्दजी की माता थीं।

[३०] सती कस्तुरांजीः आप हस्तुजी की बहिन थीं। आपने भी पति और पुत्र छोडकर दीक्षा ली। आपने १८७७ की साल से उज्जैन मे संथारा किया।

[३१] सती जैतांजीः आपने लाहवा में दीक्षा ली। आप बडी ही वैराग्यवान सती थीं। आपने पति को छोड कर दीक्षा ली थीं।

[३२] सती नौरांजी· आपका गांव शिरीयारी था। आप ने भी पति छोड़ दीक्षा ली। आपने १८७२ साल मे सन्थारा कर जन्म सार्थक किया।

उपरोक्त पाँचों सतियों ने अर्थात हस्तुजी, कुशलांजी, कस्तुरांजी, जैतांजी और नौरांजी—सबने अपने अपने पति छोड एक साथ दीक्षा ली थी। पाचों ही बड़ी वैराग्यवान थीं।

[३३] सती कुशलांजीः आपने १८७७ में संथारा किया और माधोपुर मे कार्तिक मास में परलोक-वास किया।

[३४] सती नाथाजी· आप एक धनवान घराने की थीं। आपकी प्रकृति बड़ी निर्मल और सरल थी। आपने जसोल में संथारा किया।

[३५] बिजाजी ने ३२ दिन की तपस्या की और अन्तमें आपको तीन दिन का संथारा आया। आप सं० १८८६ में स्वर्गलोक सिधारीं।

[३६] सती गांमांजीः आपकी दीक्षा सं० १८५९ में हुई थी। आप ऋषि स्वरूपरामजी, भींमजी और जीतमलजी की संसार लेखेसे काकी थीं।

(३७) सती जसोदाजी· आपका गाव खेरवा था। आप भी बड़ी गुणवान सती थीं।

(३८) सती माहीजी

(३९) सती नोजाजी

स्वामीजी के पास कुल ५६ महिलाओं ने दीक्षा ली, जिनमें से १७ अलग हो गईं और ३९ साध्वियाँ गण मे शुद्ध रीति से रहीं।

साधु-साध्वियों की उपरोक्त प्रव्रज्या-संख्या से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि जिन-शासन के उद्धार के लिए स्वामीजी ने कितना प्रबल पुरुषार्थ किया था और अन्त तक उन्हें कितनी महान सफलता प्राप्त हुई थी।

स्वामीजी ने अपने पीछे मूलागम अनुसार निर्दोष साधुव्रत पालन करनेवाले आत्मार्थी साधु-साध्वियों का एक बृहद् समुदाय छोड़ा। इस समुदाय में धुरन्धर विद्वान्, महान तपस्वी, असाधारण तत्वज्ञानी और आत्मज्ञ साधु साध्वियां थीं।

स्वामीजी के श्रावकों में विजयचन्द जी पटुआ, कवि महेसदास जी कवि शोभजी, टीकमजी डोसी, गेरूलालजी व्यास के नाम प्रसिद्ध हैं।

—स्वामीजी के जीवन-चरित्र की सामग्री—

स्वामीजी का जीवन-चरित्र पहले-पहल मुनि श्री वेणीरामजी ने लिखा, जो स्वामी जी के एक प्रज्ञावान शिष्य और सम-सामयिक साधु थे। यह संक्षिप्त जीवन-चरित्र स्वामीजी के स्वर्गवास के कुछ ही समय बाद लिखा गया था। इसमें १३ ढालें हैं। यह जीवन-चरित्र छप भी चुका है।

स्वामीजी के देहान्त के बाद उस समय के अन्य विद्वान संतोंने भी उनके गुणगान में ढालें आदि जरूर रची होंगी—ऐसा हमारा अनुमान है। एसी ढालों के संग्रह से स्वामीजी के जीवन के अनेक पक्षों पर प्रकाश पड़ेगा। ऋषि हेमराजजी ने भी स्वामीजी का एक जीवनचरित्र लिखा था—ऐसा उल्लेख "भिक्षु जश रसायन" नामक काव्य के उपसंहार में मिलता है। हम इस चरित्र को अभी तक देख नहीं पाए हैं। स्वामीजी के संस्मरण और दृष्टान्तों का संकलन भी उनकी एक महान देन है। इस संकलन में स्वामीजी के जीवन के संस्मरण संगृहीत हैं और उनसे स्वामीजी के जीवन-चरित्र की प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है। उनमें से अनेक दृष्टान्तों और संस्मरणों का इस जीवन-चरित्र में उपयोग किया गया है। स्वामीजी का एक विस्तृत और बहुत ही उच्च कोटि का काव्यमय जीवन-चरित्र चतुर्थ आचार्य श्रीमद् जयाचार्य ने लिखा है। यह जीवन-चरित्र "भिक्षु-जश-रसायन" नाम से प्रसिद्ध है

और मारवाड़ी भाषा में है। यह नागरी और गुजराती लिपि में छप चुका है। इसमें कुल ६३ ढालें हैं। प्रत्येक ढाल रागिनी पूर्ण काव्य में है और उसके पूर्व में दोहे देकर उस ढालमें आनेवाले विषय का आभास दिया है। इसे पढ़ते ही आत्मा आनन्द-विभोर हो जाती है। यह ग्रन्थ श्रीमद् जयाचार्य की अद्भुत काव्य-शक्ति का बड़ा ही सुन्दर परिचय देता है।

"भ्रमविध्वसनम्" नामक पुस्तक के द्वितीय संस्करण की भूमिका में दिया हुआ संक्षिप्त जीवन-परिचय ही शायद हिन्दी में स्वामीजी का पहला जीवन-चरित्र है। "ओसवाल नवयुवक" मासिक पत्र के वर्ष ९ अङ्क ८ में लेखक द्वारा लिखी एक संक्षिप्त जीवनी प्रकाशित हुई थी।

"श्रीमद् आचार्य भीखणजी के विचार रत्न" नामक पुस्तक के उपोद्घात में लेखक द्वारा स्वामीजी के जीवन का कुछ विस्तार से परिचय दिया गया है।

स्वामीजी की जीवनी उनके निजी साहित्य में काफी मात्रा में छिपी पड़ी है। यदि स्वामीजी की समस्त कृतियों को सगृहीत किया जाय तो स्वामीजी के दृष्टान्तों और सुन्दर प्रवचनों का एक महान् सग्रह उपलब्ध हो सकता है।

श्रावक शोभजी की कई रचनाओं से स्वामीजी के जीवन के कई पहलुओं पर सुन्दर प्रकाश पड़ता है। उनकी सारी कृतियां उपलब्ध नहीं। स्वामीजी की जीवन-सामग्री की दृष्टि से भी उनका संगृहीत होना जरूरी है।

श्रीमद् जयाचार्य की कई फुटकर ढालों में स्वामीजी के लिखत और मर्यादाओं का वर्णन आया है। भिन्न २ मर्यादा महोत्सव पर लिखी उन की ढालों में अवश्य ही स्वामीजी के जीवन की प्रचुर सामग्री है। "कालवादी की चौपाई" में स्वामीजी के सुन्दर दृष्टान्त निहित हैं—ऐसा श्री जयाचार्यने एक जगह उल्लेख किया है। मिथ्यात्वीकी करणी पर भी अनेक दृष्टान्त तद्विषयक ढालोंमें हैं। "पोत्या बध" और "प्रज्यावादी" की ढालों में भी अनेक दृष्टान्त हैं। टीकम डोसी और स्वामीजी के बीच सूक्ष्म प्रश्नोतर में से अनेक सामग्री प्राप्त हो सकती है।

स्वामीजी की कई अमूल्य धर्म-कथाएँ दृष्टान्त और जीवन प्रसंग शायद अब तक अलिखित ही हैं और गुरु-परम्परासे केवल स्मृति के विषय हैं और केवल सुन कर ही जाने जा सकते हैं। पूज्यपाद आचार्य महाराज तथा अन्य संतों की सेवा से ऐसी काफी सामग्री एकट्ठी की जा सकती है।

खण्ड २

जी - विश्लेषण

: १ :

स्वामीजी के जीवन की पृष्ठ-भूमिका

—आरोप और उसका हेतु—

स्वामीजी पर जो सबसे बड़ा आरोप लगाया जाता है, वह यह है: "उन्होंने भगवान महावीर के वचनों को उलट दिया। उन्होंने जैन-शास्त्रों से प्रतिकूल आचार-विचार का प्रचार कर एक विचित्र और अजीब मतकी स्थापना कर दी। वे एक ऐसे मतवाद के सृष्टा हैं जिसका मेल दुनियाँ के किसी धर्म के साथ नहीं खाता। उनके मतवाद मे जैनधर्म का लवलेश भी नहीं।" पर जब हम स्वामीजी के विचारों पर धीर चित्त से ध्यान देते हैं तो उपरोक्त आक्षेपों में सत्य का अंश भी नहीं दिखाई देता। वास्तव में, स्वामीजी ने किसी नये धर्म की स्थापना नहीं की, उन्होंने जिन-धर्म का ही उद्धार किया।

जैनधर्म आध्यात्मिक सस्कृति-प्रधान एक महान् धर्म है। आत्मिक उन्नति ही उसका परम लक्ष्य है। गहरे तत्वज्ञान का वह महान् भण्डार है। आत्म-विकास के उसमें अपूर्व साधन हैं। सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चार साधनों पर ही उसकी नीव डाली हुई है। एक समय था, जब यह धर्म अपनी चरमोन्नति पर था। परन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया, राजकीय सत्ताओ में परिवर्तन उपस्थित हुए और उसके साथ-साथ अन्य धर्मों ने जोर पकड़ा वैसे-वैसे जैन-धर्म की अवनति होती गई और ऐसे विचारों को अपनाना जरूरी समझ लिया गया, जो जैन-धर्म के मौलिक न होते हुए भी जमाने के विरोध से त्राण पाने के लिए अक्षय कवच से मालूम दिए। विचारों के साथ-साथ आचार में भी समय-समय पर परिवर्तन और शिथिलता आई और अन्त में सैकड़ों वर्षों के बाद जैन-धर्मके आचार-विचार का ऐसा स्वरूप बन गया जो उसके आदि और मूल स्वरूप से सर्वथा भिन्न पड़ता था। जब

स्वामीजी का एक क्रांतिकारी आदर्श साधु के रूप में प्रादुर्भाव हुआ तब जैनधर्म की प्राय ऐसी ही अध पतित अवस्था थी। स्वामीजी ने जैन-धर्मके पुनरुद्धार का बीड़ा उठाया। आठ वर्ष के दीर्घ और गम्भीर शास्त्रीय चिन्तन और मनन के बाद उन्होंने शुद्ध जैन-धर्म को प्राप्त कर उसे जनता के सम्मुख रखा। सैकड़ों वर्षों से एक खास प्रकारकी विचार-धारा की आदी जनता इस अदभुत प्रकाश को कैसे सहन करती? आचार-विचार में शिथिल गुरु-परम्पराका स्वार्थ स्थिति-पालकता में ही था। स्वामीजी की विचार धाराको जैन-धर्म की असली—आदि भाव धारा स्वीकार करना उनके लिए जैसे अपने गौरव को मिट्टी में मिलाना था! सम्मान-अपहरणकी भावना महाभय को पैदा किए हुए थी।

जब सैकड़ों, हजारों वर्षों के बाद कोई महापुरुष पैदा होकर हमें शुद्ध-जीवन का संदेश देता है, तो हम एकाएक उसे सहन नहीं कर सकते। उस समय अपनी भूलको स्वीकार करना सबसे बड़ी घातक भूल मालूम देती है। हम इसी बात को सिद्ध करने में अड़ जाते हैं कि हमसे कोई भूल हुइ ही नहीं, हम सत्पथ पर ही हैं। हमारा तर्क होता है कि हमारी आचार विचार धारा वही है जो परम्परा से चली आ रही है। अमुक तो एक नई और विचित्र बात को लेकर आया है जो हमारी अच्छी पुरानी परम्परा को नष्ट-भ्रष्ट करना चाहता है। इस तरह स्वार्थी नेता उस शुद्ध प्रकाशमयी विचार धारा की चमकती हुई नवीनता को ही विरोध का एक जबरदस्त शस्त्र बना लेते हैं और प्राचीन के प्रति मोह-भावना को जागृत कर नवीन के प्रति विरोध का दावानल सुलगा देते हैं। स्वामीजी के प्रति भी ठीक ऐसा ही हुआ। उनकी शुद्ध—जैन धर्ममयी—विचार-धारा को नवीन और विचित्र शब्दों से घोषित कर उनके प्रति विरोध का तीव्र वातावरण पैदा कर दिया गया। श्रावकों को धर्म के असली तत्व नहीं बतलाए जाते थे। आचार और विचार में जो शिथिलता आ गई थी उसे द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव की अनुवर्ती बतलाकर अनेकान्तवादी जैन-धर्म की विशिष्टता सिद्ध कर दी जाती थी। अपने अस्तित्व और

प्रभाव को कायम रखनेकी स्वार्थपूर्ण भावना ने ही स्वामीजीके मतको एक विचित्र मत के रूपमें अंकित करवाया और उन्हें 'निन्हव', 'एक नये पीर', और 'एक नये पैगम्बर' की उपाधि दिलवाई।

—संस्थापक नहीं उद्धारक—

पर स्वामीजी न कोई नये पीर थे, न कोई पैगम्बर। वे एक महान् सेवक थे। मानो वे जैन-धर्म की सेवा करने के लिए ही जन्मे हों। उनके जीवन का एक-एक पल इस धर्म के उद्धार के लिए लगा। वे तो जैसे भूले हुए सन्देश को याद कराने के लिए ही आए हों। वे एक भूली हुई चीज की ताजी स्मृति थे। वे स्वयं दीप-शिखा नहीं परन्तु बुझती हुई दीप-शिखा के प्राण थे। जैन-धर्म के बुझते हुए चिराग में उन्होने अपना जीवन-स्नेह अर्पित कर उसे पुनः प्रज्वलित किया। वे एक कृषक नहीं, कृषि-रक्षक थे। उन्होंने खेत को उजड़ने से बचाया और उसे हराभरा रखा। ऐसी हालत में स्वामीजी को 'नये पीर' और 'नये पैगम्बर' की उपाधि देकर कोई उनका उपहास भले ही करे, परन्तु वह वास्तविक परिस्थिति को सामने नहीं रखता।

स्वामीजी जैन-धर्म के अनन्य भक्त थे। भगवान के वचनों के वे अद्वितीय पुजारी थे। जिन-वचनों में उन्हें अगाध श्रद्धा थी। वे जगह-जगह कहते हैं— "जिन भगवानका धर्म सौटंच सोना है।" "भगवान की शरण में महती शक्ति है।" "भगवान का मार्ग राजमार्ग है। वह कोई पगडंडी नहीं, जो बीच ही में रुक जाय। वह तो सीधा मोक्ष का मार्ग है।" "जो जिन-आज्ञाके बाहर धर्म बतलाते हैं, वे अंधेरे को सूर्य-प्रकाश कहते हैं।" "जैन-धर्म" के प्रति ऐसी उदार मनोभावना रखनेवाले महापुरुष किसी नये धर्म के प्रचार की कल्पना ही कैसे कर सकते? उन्होंने एक पैगम्बर की तरह कभी नहीं कहा कि दुनियाके लिए उनके पास एक नया संदेश है। उन्होंने कभी घोषणा नहीं की कि दुनिया को उन्हें एक नई देन देनी है। परन्तु उनकी पुकार एक उद्धारक की पुकार थी। वह एक

अंतरंग सेवी की अन्तर्नाद थी। वे कहते—"भगवान के साधु और श्रावक कहलाकर अनीति के मार्ग पर क्यों चलते हो? भगवान के नामपर इस पाखंड और ढोंगका पोषण क्यों करते हो? भगवान ने साधु उसे ही कहा है, जो आत्माकी साधना करे। प्रभु के अनुशासनानुसार स्वच्छ आचार-विचार का पालनकर आत्मिक उन्नति की साधनामें जीवन बिताओ। भगवान का आश्रय बड़ा उदार है। उसकी शरण में आकर अनीति नहीं करनी चाहिए।"

गीताका 'सस्थापनार्थाय नहीं 'उत्थानाय' ही उनके लिए ठीक बैठता है। वे एक उद्धारक थे, संस्थापक नहीं। उनके जीवन का कार्य सजन नहीं—उत्थान था। स्वामीजी के जीवन में ऐसी अनेक घटनाएँ घटी हैं जो साफ प्रगट करती हैं कि उन्होंने कोई नई कल्पना नहीं की। किसी नई विचार धारा व धर्म का सृजन नहीं किया परन्तु जैन-धर्म को मौलिक आचार और विचार धाराको पुन: जीवित कर उसमें नव-चेतना का संचार किया। हम यहां ऐसी कुछ घटनाओंका उल्लेख करते हैं

—अन्तर-भावना के स्फुट चित्र—

स्वामीजी के अनुयायी साधु और श्रावकोंकी संख्या शुरू-शुरू में केवल तेरह थी इसलिए उनके अनुयायियों का नाम "तेरा*पंथी" रख दिया जाता है। स्वामीजी जब यह सुनते हैं तो कहते हैं—' हे प्रभु! हमें तो तेरा ही मार्ग अच्छा लगता है, इसलिए हम भले ही 'तेरापंथी' कहलाए। हमारा मार्ग तेरा मार्ग नहीं है तो किसका मार्ग है?" नाम-संस्करण की यह घटना स्वामीजी के जीवनकी पृष्ठ-भूमिका पर कितना सुन्दर प्रकाश डालती है! भगवान की भक्ति में वे कितने भीने हुए हैं, जैन-धर्म उन्हें कितना अच्छा लगता है—इसका स्फुट चित्र इस घटना में है।

दूसरी घटना इस प्रकार है —स्वामीजी जनतामें जैन-धर्म के असली स्वरूप को फैलाना चाहते हैं परन्तु नव-दीक्षा के बाद उन्हें बड़ा कष्ट अनुभव होता है। लोग

*—'तरह' शब्द का मारवाड़ी पर्यायवाची शब्द 'तेरा' है।

इतने पथभ्रष्ट हो चुके हैं कि शुद्ध-जीवन का उपदेश भी उन्हें असह्य होता है। श्रोता के बिना धर्म किसको सुनाया जाय? ऐसी हालत में जैन-धर्म के उद्धार का कार्य स्वामीजी को असंभव-सा लगने लगता है। उनके हृदय में निराशा की-सी लहर छा जाती है और धर्म-प्रचार के विचार से मन मोड़, वे मौन चिन्तन—आत्म-साधना—करने लगते हैं। इस निराशा के समय वे एक ढाल जोड़ते हैं जिसे 'जैन-धर्म के विखे की ढाल' कहते हैं। इस ढालमें भगवान महावीर की स्तुति करते हुए स्वामीजीने उसके शेषांशमें अपनी आत्म-वेदना को भगवान महावीरके सम्मुख इस प्रकार रक्खा है :—

"भगवन्! आज भारत में कोई केवलज्ञानी नहीं। १४ पूर्व का ज्ञान आज विच्छेद हो चुका। आज कुबुद्धि कदाग्रहियों ने जिन-धर्म में बड़ा अन्तर डाल दिया है। उच्च राजा-महाराजा जैन-धर्म छोड़ चुके हैं। आज तो साधु के भेषमे केवल पाखड है। हे प्रभु! आज जैन-धर्म बड़ी विपदा में है। आज इस धर्म के अनुयायियों में एक भी राजा नहीं। आज तो केवल ज्ञान-रहित भेषकी वृद्धि हो गई है। इन भेष-धारियों की भिन्न-भिन्न श्रद्धा है और भिन्न-भिन्न आचार। ये द्रव्य लिंगी हैं—भेष से साधु हैं। इन नाममात्र के साधुओं ने अपनी पेट-पूर्ति के लिए अन्य दर्शन और धर्मों की शरण ले ली है। इन्हें किस तरह सुमार्ग पर लाया जाय? ये तो परस्पर ही श्रद्धा—आस्था—को उठाते फिर रहे हैं। इनकी श्रद्धा—विचार धारा—का कोई सिर-पैर नहीं। जब इन्हें न्यायकी बात कही जाती है तो परस्पर झगड़ते रहने पर भी एक होकर झूठ बोलने लगते हैं। इन्हें विपरीत—अण्ट-सण्ट बोलने में जरा भी संकोच नहीं होता।

'हे प्रभु! आपने उत्तराध्ययन सूत्र में सम्यक् ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप को ही मुक्ति का मार्ग बतलाया है। मैं इन बातों के सिवा और किसी में धर्म नहीं मानता। मैं तो अरिहत भगवान ही को देव, निर्ग्रन्थ गुरु ही को गुरु औरआप केवली भगवान द्वारा बतलाए धर्म को ही धर्म समझता हूँ। मेरे लिए और सब भ्रमजाल

है। मैं इन तत्वों को ही सच्चा समझता हूँ और उन्हीं का शरणार्थी हूँ। इन तीन तत्त्वों में ही आपकी आज्ञा है और आपकी आज्ञा को ही हे प्रभु! मैं प्रमाण मानता हूँ। मेरी आत्मा इन्हीं भावनाओं से धर्म-ध्यान में रम रही है। आपकी आज्ञा-पालन में मुझे परमानंद है। हे प्रभु! मेरे तो आप ही आधार हैं और सूत्रों—आपके वचनों—ही की मुझे प्रतीति है।"

उपरोक्त उद्गारोंमें भगवान के प्रति स्वामीजी की अनन्य भक्ति—अगाध श्रद्धा उछालें मार रही हैं। मीराबाई कहती है—"मेरे तो गिरधर गोपाल और दूसरो न कोई।" स्वामीजी कहते हैं "मुझे तो भगवान महावीर ही का आधार है और किसी का नहीं।" मीराबाई कृष्ण की अनन्य भक्त थी, वैसे ही स्वामीजी भगवान महावीर के अनन्य भक्त थे। उन्हीं की शरण उन्हें प्रिय थी और उन्हींका मार्ग। उनके लिए जिन-आज्ञा ही धर्म की कसौटी और उसका पालन ही जीवनका परमानन्द था।

यह आकर्षण क्यों?

काली अंधेरी रातमें से उषाका उदय होता है, उसी तरह स्वामीजीके जीवन की निराशा में से आशा का संचार हुआ। धीरे धीरे उनके आचार-विचार का प्रभाव बढ़ता गया और कुछ वर्षों के बाद उनके अनुयायियों की संख्या भी काफी हो गयी। अब स्वामीजी से, जगह-जगह के लोग, आ-आकर अपने २ गांव पधारने की, विनतियां करने लगे।

एक बार विहार करते-करते स्वामीजी केलवा नामक गांव पधारे। वहां के ठाकुर मोहकमसिंहजी स्वामीजी के दर्शन करने आए। धर्म-परिषद् लगी हुई थी। उन्होंने जनता के सामने ही स्वामीजी से प्रश्न किया—"स्वामीजी! आपके पास गांव-गांवकी प्रार्थनाएँ आती हैं। आप को सभी स्थानों के लोग चाहते हैं। स्त्री-पुरुष सब को आप प्रिय हैं। आपको देखकर उनके हर्ष का पारावार नहीं रहता। आपमें ऐसा कौन सा गुण है, जिससे यह आकर्षण है?"

और प्रवाह उस पर्वत की ऊँचाई और पीछे के जल-संग्रह पर निर्भर करता है, जिससे वह बहिर्भूत होता है, उसी तरह स्वामीजी मानते थे कि उनकी सफलता प्रतिष्ठा और सन्मान—सब कुछ भगवान् के धर्मकी महत्ता और उसकी अनुपमता पर ही आधारित है। वे एक पुजारी थे—पुरोहित थे—जो सब कुछ भगवान के चरणों पर भेंट कर चुके थे। भगवान महावीर ही स्वामीजीके आराध्य देव थे और उनकी आज्ञा का पालन ही उनके जीवनका श्वासोच्छ्वास। मानो वे अहर्निश प्रार्थना करते थे :

"मेरे जीवन में दो बातें न घटे—भगवान की आज्ञाके बाहरके कार्यों में उद्यम और भगवान् की आज्ञा के कार्यों में आलस्य।"

अन्तिम समय के दो स्फुट चित्र

स्वामीजी ने अपने जीवन के अंतिम दिनों में अपने शिष्यों को जो धर्म-प्रवचन दिया, उसका सार हम पीछे दे आए हैं। स्वामीजी अपने अन्तिम प्रवचन में भी जिन आज्ञा के अक्षुण्ण पालन का उपदेश देना नहीं भूले। जिन-आज्ञाको लोप कर स्वच्छन्द विचरनेवालों के लिए धर्ममें कोई स्थान नहीं—इस बातको अन्तिम उपदेश में भी अपने शिष्यों के हृदय पर अंकित कर देना वे अपना परम कर्तव्य समझते हैं। एक ओर उन्हें इस जीवन का छोर-अंत दिखाई दे रहा है और दूसरी ओर वे कहते हैं—"मेरे मनमें परमानन्द है। मैं पूर्ण आत्मिक समाधिका अनुभव कर रहा हूँ। अब मेरे मनमें कोई बात नहीं रही। इस परम सन्तोष और आत्म समाधिका कारण उनके—"मैं जिन-शासन का उद्धार कर सका उसे उज्ज्वलित कर सका—शब्दों में साफ प्रस्फुटित होता है।

जिन भगवानकी आज्ञा है :

> जं किंचुवक्कमं जाणे आउक्खेमस्स अप्पणो।
> तस्सेव अंतरा खिप्पं सिक्खं सिक्खेज्ज पंडिए॥

"जब अपनी आयु का क्षय-काल दिखाई दे तो पहले से ही संलेपना-रूप शिक्षा को ग्रहण करे।"

स्वामीजी को मालूम होने लगा की उनका शरीर ढीला पड़ गया है। उनके मनमें अधिक दिन जीनेका भरोसा नहीं रहा। अपने शरीरकी यह दशा देखते ही जैसे उन्हें उपरोक्त आज्ञाका स्मरण हो आया। वे मृत्यु का सामना करने के लिए तुल गये—अपश्चिम मरणान्तिक सलेषना की तैय्यारी में लग गये। अतमें भक्त-परिज्ञा—अन्नपानी दोनों का त्याग कर स्वेच्छा से जीवनको शरीरसे अलग कर दिया। एक मृत्युञ्जय योगी की तरह देह-त्याग कर जिन-आज्ञा की आराधना की।

भगवान की आज्ञा उनके लिए कितनी महान् चीज थी। जिन-आज्ञाका पालन पहले होना चाहिए—जीना पीछे। जिन—आज्ञा के अनुसार जीना हो सके तो ही जीना चाहिए - यह उनके जीवनका महान् सूत्र था। अपने समग्र जीवनमें उन्होंने इस सूत्र और सिद्धान्तको अखण्ड और अक्षुण्ण रखा। भगवानने कहा है—"कायस्स वियाघाए संगामसीसे वियाहिए"—"स्वेच्छा देहत्याग सग्राम का सबसे बड़ा मोरचा है।" स्वामीजीने इस मोरचे पर भी विजय प्राप्त की। "अवि हम्ममाणे फलगावयट्ठि कालोवणीते, कंखेज्ज कालं जाव सरीर भेओ" "अतकाल में अकम्पित रह, एक काष्ठ के टुकडे की तरह शात अचल रहकर शरीर-पात पर्यंत प्रसन्न चित्तसे मृत्यु-कालकी प्रतीक्षा करे।" स्वामीजी के अतिम जीवन पर दृष्टिपात करने वाले देख सकेंगे कि उन्होंने इस आज्ञा को किस तरह शिरोधार्य किया। स्वामीजी का देहावसान अनशन और शान्त ध्यान-मुद्रा में हुआ।

और प्रवाह उस पर्वत की ऊँचाई और पीछे के जल-संग्रह पर निर्भर करता है जिससे वह बहिर्भूत होता है, उसी तरह स्वामीजी मानते थे कि उनकी सफलता प्रतिष्ठा और सम्मान—सब कुछ भगवान् के धर्मकी महत्ता और उनकी अनुसरना पर ही आधारित है। वे एक पुजारी थे—पुरोहित थे—जो सब कुछ भगवान के चरणों पर भेंट कर चुके थे। भगवान महावीर ही स्वामीजीके आराध्य देव थे और उनकी आज्ञा का पालन ही उनके जीवनका श्वासोच्छ्वास। मानो वे अहर्निश प्रार्थना करते थे:

"मेरे जीवन में दो बातें न घटें—भगवान की आज्ञाके बाहरके कार्यों में उद्यम और भगवान् की आज्ञा के कार्यों में आलस्य।"

अन्तिम समय के दो स्फुट चित्र

स्वामीजी ने अपने जीवन के अन्तिम दिनों में अपने शिष्यों को जो धर्म-प्रवचन दिया उनका सार हम पीछे दे आए हैं। स्वामीजी अपने अन्तिम प्रवचन में भी जिन-आज्ञा के अनुगत पालन का उपदेश देना नहीं भूले। जिन-आज्ञाको लोप कर स्वच्छन्द विचारकों के लिए मार्ग में कोई स्थान नहीं—इस बातको अन्तिम उपदेश में भी अपने शिष्यों के हृदय पर अंकित कर देना वे अपना परम कर्तव्य समझते हैं। एक ओर उन्हें इस जीवन का छोर-अन्त दिखाई दे रहा है और दूसरी ओर वे कहते हैं—'मेरे मनमें परमानन्द है। मैं पूर्ण आत्मिक समाधिका अनुभव कर रहा हूँ। अब मेरे मनमें कोई बात नहीं रही।' इस परम संतोष और आत्म-समाधिका कारण उनके—"मैं जिन-शासन का उद्धार कर सका उसे उपलब्ध कर सका"—शब्दों में सच प्रस्फुटित होता है।

जिन भगवानकी आज्ञा है:

> जं किंचुवक्कमं जाणे आउक्खेमस्स अप्पणो।
> तस्सेव अंतरा खिप्पं सिक्खं सिक्खेज्ज पंडिए॥

"जब अपनी आयु का क्षय-काल दिखाई दे तो पहले से ही संलेषना-रूप शिक्षा को ग्रहण करे।"

स्वामीजी को मालूम होने लगा की उनका शरीर ढीला पड़ गया है। उनके मनमें अधिक दिन जीनेका भरोसा नहीं रहा। अपने शरीरकी यह दशा देखते ही जैसे उन्हें उपरोक्त आज्ञाका स्मरण हो आया। वे मृत्यु का सामना करने के लिए तुल गये—अपश्चिम मरणान्तिक सलेषना की तैय्यारी में लग गये। अतमें भक्त-परिज्ञा—अन्नपानी दोनों का त्याग कर स्वेच्छा से जीवनको शरीरसे अलग कर दिया। एक मृत्युञ्जय योगी की तरह देह-त्याग कर जिन-आज्ञा की आराधना की।

भगवान की आज्ञा उनके लिए कितनी महान् चीज थी। जिन-आज्ञाका पालन पहले होना चाहिए—जीना पीछे। जिन–आज्ञा के अनुसार जीना हो सके तो ही जीना चाहिए-- यह उनके जीवनका महान सूत्र था। अपने समग्र जीवनमें उन्होंने इस सूत्र और सिद्धान्तको अखण्ड और अक्षुण्ण रखा। भगवानने कहा है—"कायस्स वियाघाए संगामसीसे वियाहिए"—"स्वेच्छा देहत्याग संग्राम का सबसे बड़ा मोरचा है।" स्वामीजीने इस मोरचे पर भी विजय प्राप्त की। "अवि हम्ममाणे फलगावयट्ठि कालोवणीते, कंखेज्ज कालं जाव सरीर भेओ" "अंतकाल में अकम्पित रह, एक काष्ठ के टुकड़े की तरह शात अचल रहकर शरीर-पात पर्यंत प्रसन्न चित्तसे मृत्यु-कालको प्रतीक्षा करे।" स्वामीजी के अतिम जीवन पर दृष्टिपात करने वाले देख सकेंगे कि उन्होंने इस आज्ञा को किस तरह शिरोधार्य किया। स्वामीजी का देहावसान अनशन और शान्त ध्यान-मुद्रा में हुआ।

जिहाँ आप तणी आगन्या नवि
ते करणी छै जाबक जबून हो ॥ स्वा० हू० ॥

"जिसने आपकी आज्ञा और मौनको पहचान लिया उसने आपको भी पहचान लिया। उसकी अधम गति टल गई।

जिसने आपकी आज्ञा और मौन को नहीं पहचाना, उसने आपको भी नहीं पहचाना। उसके अधम-योनि का बंध होगा।

आप अवसर देखकर बोले। आपने अवसर देखकर मौन धारण किया। जिस कार्य में आपकी आज्ञा नहीं वह बिल्कुल जघन्य है।"

—धर्म-अधर्म का नीर-क्षीर विवेक—

एक ढाल में स्वामीजी ने बतलाया है कि किन किन कार्यों में जिन-आज्ञा है और किन-किन में नहीं। जिन कार्यों में स्वामीजीने जिन-आज्ञाको प्रमाणित—सिद्ध किया है, उनमें से एक भी कार्य आपको विचित्र या अजीब नहीं दिखाई देगा और न जिन कार्योंमें स्वामीजीने आज्ञाका अभाव बतलाया है, उनमें कोई ग्रहणीय। स्वामीजी को अच्छी तरह समझा जा सके, इसलिए हम उस ढाल का भावार्थ यहाँ देते हैं:

१—संसार में कार्य दो प्रकार के हैं; एक अधर्म कार्य और दूसरे धर्म कार्य। धर्म कार्यों में जिन भगवान की आज्ञा है। अधर्म कार्यों में नहीं है। परमार्थ में जिन-आज्ञा है, अनर्थ में जिन-आज्ञा नहीं।

२—सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चार मोक्ष मार्गों मे भगवान की आज्ञा है इनके विपरीत कु ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपमें नहीं।

३— सर्व व्रत और देश व्रत, जो क्रमशः साधु और श्रावक के धर्म हैं, उनमें जिन-आज्ञा है। व्रतों के उपरांत जो अधर्म —पाप—है उसमें जिन-आज्ञा नहीं।

४—सर्व मूल-गुण और सर्व उत्तर-गुण तथा देश मूल-गुण तथा देश उत्तर-गुण—इन सब गुणों में जिन-आज्ञा है। गुणहीनता में आज्ञा नहीं।

५—संवर के बीस भेद, जिनसे नए कर्मों का संचार रुकता है, और निर्जरा,

बारह भेद जिनसे संचित कर्म झड़कर दूर होते हैं, जिन-आज्ञा में हैं। संवर और निर्जरा के सिवा सब कर्तव्य सावद्य—पापपूर्ण—हैं और उनमें आज्ञा नहीं है।

६—धर्मध्यान और शुक्लध्यान भगवान की आज्ञा में हैं; आर्त और रौद्र—ये दो हेय ध्यान आज्ञा में नहीं।

७—शुभ परिणाम और शुभ अध्यवसाय आज्ञामें हैं; बुरे परिणाम और बुरे अध्यवसाय नहीं।

८—तेजो पद्म और शुक्ल ये तीनों शुभ लेश्याएँ आज्ञा में हैं। कृष्ण, नील और कापोत ये अशुभ लेश्याएँ आज्ञा में नहीं।

९—मन-वचन-काया के शुभ योग—व्यापार—में जिन-आज्ञा है। बुरे योगों में नहीं।

१०—मन वचन और काया से त्रिविध हिंसा न करने को दया कहा है और सुपात्र को देना दान। दया और दान—मोक्ष के इन दो मार्गों में भगवान की आज्ञा है। हिंसा और कुदान में नहीं।

११—उपकार दो प्रकार के हैं। एक आत्मिक उपकार और दूसरा सांसारिक उपकार। आत्मिक उपकार में आज्ञा है। सांसारिक उपकार में नहीं।

१२—अरिहंत भगवान को देव कहा है। निग्रंथ साधु को गुरु और केवली भगवान द्वारा भाषित सिद्धान्तों का धर्म। शुद्ध देव, गुरु और धर्म की आराधना में जिन-आज्ञा है। कुदेव, कुगुरु और अधर्म की आराधना में नहीं।

१३—चार बातें मंगल रूप हैं, चार बातें उत्तम और चार बातें शरणरूप। इनमें प्रभु की आज्ञा है। इनके सिवा कोई बात मंगल, उत्तम और शरणरूप नहीं। और उनमें जिन-आज्ञा नहीं।

१४—संयम ब्रह्मचर्य, कल्प्य आचार, धर्मक्रिया, सम्यक्त्व सद्बोध और सन्मार्ग में जिन-आज्ञा है। उनके विपरीत असंयम, कुशील, अकल्प्य आचार अज्ञान पापक्रिया मिथ्यात्व, अबोध और उन्मार्ग में जिन-आज्ञा नहीं है।

भगवान ने कहा है—"आणाए मामग धम्म"—"मेरा धर्म मेरी आज्ञामें है।" स्वामीजी ने भी कहा है "भगवान का धर्म भगवान की आज्ञा में है उसके बाहर नहीं।" स्वामीजी ने भगवान की आज्ञाओं का जो लब्धुतम निकाला वह ऊपर दिया गया है। इस भावार्थ का विस्तृत अर्थ यह है—"अहिंसा, सत्य, अचोरी, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह—ये पांच महाधर्म हैं। अकषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ को जीतना और अराग-अद्वेष—राग-द्वेष को जीतना धर्म है। सत्बोध प्राप्त करना और व्रतादि के ग्रहण से आत्मा को सयम में लाना धर्म है। त्याग में, इन्द्रिय जयमें—विषयों के जीतने में—धर्म है। दया में धर्म है, मोह में नहीं। शुद्ध दान में धर्म है, असंयम, प्रमाद, दीनभाव, और पुरुषार्थ हीनता के पोषण में नहीं।"

कोई भी सच्चा जैनी अपने हृदय पर हाथ रखकर कहे कि स्वामीजी के इन विचारों में क्या कहीं कोई भूल है? क्या कोई ऐसी बात है जो जैन-धर्म के अगौरव की है अथवा उसकी समस्त विशेषताओं को प्रगट नहीं करती? अगर ऐसी बात नहीं है तो उनकी विचार-श्रेणी विचित्र कैसे? उसे अजीब क्यों कहा जाय? जो स्वामीजी को निन्हव और जिन-आज्ञाका विराधक कहते थे उनसे स्वामीजी का केवल एक ही प्रश्न था—"सच्ची श्रद्धा और सच्ची क्रिया इनमें भगवान की आज्ञा है। मैं भी इनमें धर्म समझता हूँ। ऐसा कोई कार्य बतलाओ जो इनके अन्तर्गत है और जिसमें मैं धर्म नहीं मानता। यदि ऐसा कोई कार्य नहीं बतला सको तो मेरे पर निन्हव होनेका—उत्सूत्र-प्ररूपक होनेका आरोप लगाना निराधार है।"

इन सब उद्गारों के होते हुए भी यदि कोई स्वामीजी के धर्म को आधुनिक और उनको 'भुला भटका' समझे तो यह उसकी भ्रान्ति है। यदि कोई अमृत को विष समझने लगे तो यह अमृत का दोष नहीं, समझने वाले की बुद्धि का ही विपर्यास है।

—जिन आज्ञा की महानता—

स्वामीजी जिन-आज्ञाको बड़ी महानता देते। जिन-आज्ञा की पहिचान करने पर जोर देते। उन्होंने एक जगह कहा है :

> जिन-शासन में आज्ञा बड़ी, ओलखै ते बुद्धिमान
> ज्यां जिन-आज्ञा नवि ओलखी जीव छै विकल समान।"

"जिन-शासन में जिन-आज्ञा सबसे बड़ी है। जो इसको समझ लेता है वह बुद्धिमान् है। जो जिनेश्वर देव की आज्ञा को नहीं समझता वह मूर्ख है।"

वे अन्यत्र कहते हैं—"जो प्रभु-आज्ञा को लोप कर स्वच्छन्दता से चलते हैं वे ज्ञानादिक धन से रहित होते हैं। साधु सदा इस बात का ध्यान रखे कि प्रभु द्वारा बताया हुआ धर्म ही उसके लिए प्रमाणिक है, अन्य धर्म नहीं।"

इस तरह जोरदार ध्वनि उठाकर स्वामीजी ने जैनधर्म को पुन: प्राण प्रतिष्ठित करने का भगीरथ प्रयत्न किया। स्वामीजी की अखण्ड—अगाध—श्रद्धा एक हीरे की तरह दूर-दूर तक दिव्य प्रकाश डालती। वह तपाए हुए सोने की तरह शुद्ध और निर्मल थी। उसमें शंख सदृश उज्ज्वलता थी। उसमें इस्पात की सी दृढ़ता थी जो मारतौल के टुकड़े २ कर देती पर जो स्वयं न लचकती, न झुकती और न टूटती थी। इस अखण्ड—अडिग—श्रद्धाके कारण ही वे जैन-धर्म का उद्धार कर उसे पुन जीवित कर सके।

हम पहले ही कह आए हैं कि समय के प्रवाह से और अनेक तरह के प्रत्याघातों के कारण जैनधर्म छिन्न विछिन्न हो गया था। लोग ऐसी बातों को जैनधर्म की अंगभूत मानने लगे थे जो उसकी अपनी नहीं पर विकृतियां थी। इन विकृतियों में धर्म मानने वालों की स्वामीजी बड़ी कड़ी आलोचना करते।

एक बार स्वामीजी पंचमी समिति के लिए—शौच निवृत्ति के लिए गांव बाहर जा रहे थे। रास्तेमें हीरविजय नामक एक जैन यती स्वामीजी के साथ हो लिया। रास्तेमें वह स्वामीजी से तरह २ के सवाल करने लगा। वह कहता था :—

"(१) हिंसा में पाप नहीं यदि मनुष्य सम्यक्दृष्टि हो। सम्यक्दृष्टि को पाप नहीं छूता। (२) जीवों को मारने से संसार-भ्रमण नहीं बढ़ता, न जीवों की रक्षासे घटता ही है। होनहार है सो ही होता है। (३) केवल-ज्ञानियों ने देखा है उस समय मोक्ष पहुँच जायँगे इसलिए क्रियाकी कोई आवश्यकता नहीं।" रास्ते चलते बात करना ठीक न समझ स्वामीजी मौन थे। स्वामीजी को मौन देखकर ग. "मालूम होता है आपको भी हमारे सिद्धान्त पसन्द आए हैं। शायद ; उत्तर नहीं देते ?" स्वामीजी अब चुप नहीं रह सकते थे। वे पैर थामकर

काग निमोली में रति करे
भण्डसूरा ने विस्टो आवे दाय
ज्यों काग भण्डसूरा जेहवा मानवी
रिझे आज्ञा बाहरली करणी मांय !

' कौआ पेड़ से गिरि हुई निमोली में रति करता है और भण्डसूर को भिष्टा । लगता है। कौवे और भण्डसूर की श्रेणी के जो मनुष्य हैं, उन्हें ही जिन- के बाहर के कार्यों में आनन्द आता है।"

यह कहकर स्वामीजी बोले—"मैं तो इन सिद्धान्तों को भिष्टा तुल्य समझता हूँ। सिद्धान्तों के लिए मेरे मनमें स्वप्न में भी कोई स्थान नहीं। मैं तो केवल जैन को ही अच्छा समझता हूँ।"

स्वामीजी की आत्मा, एक स्वाभिमानी राजहंस की तरह, जैनधर्म रूपी विशाल नसरोवर पर विहार करती और उसकी सुभाषित मुक्ताओं पर ही गुजर करती।

भगवान ने कहा है :—

जे अणन्नदंसी से अणण्णारामे
जे अणण्णारामे से अणन्नदंसी।

जे परमार्थदर्शी होता है वह अनन्य विश्वासी होता है और जो अनन्य विश्वासी होता है वही परमार्थ दर्शी है।' इस पदमें केवली भाषित धर्ममें अडिग---स्थिर भाव को ही परमार्थदर्शी का परम लक्षण बतलाया है। स्वामीजी में एक परमार्थदर्शी की अडिग–निश्चल-श्रद्धा थी। यहाँ हम स्वामीजी की ढालों के कुछ पद देते हैं जिनसे पाठकों को मालूम होगा कि जैन धर्म के प्रति स्वामीजी की श्रद्धा कितनी निश्चल थी और जिन-आज्ञा के विपरीत कर्मों में धर्म मानने के प्रति कितना तीव्र विरोध।

आज्ञा में धर्म छै जिनराजरो
आज्ञा बारे कहै ते मूढ़ रे।
विवेक विकल शुद्ध बुद्ध बिना,
ते बूड़े छै कर कर रूढ़ रे॥
श्री जिन धर्म जिन आगन्या तिहाँ,
उजलो धर्म छै जिनराज रो,
ते तो श्री जिन आज्ञा सहित रे।
मुगत जावा अजोग अशुद्ध कह्यो,
ते तो जिन आज्ञा स्यू विपरीत रे ॥श्री०॥
आज्ञा शूं सके ते धर्म म्हारो,
एहवो चिन्तवे साधु मन मांय रे॥
आज्ञा बिन करवो जिहांहि रह्यो,
रह्यो बोलवो पिण नवि थाय रे ॥श्री०॥
हू कहि-कहि ने कितरो कहूँ,
आगन्या बारे नहीं धर्म मूल रे।
आगन्या बारे धर्म कहै तेहना,
श्रद्धा कथ विना जाणो धूल रे

"भगवान का धर्म उनकी आज्ञामें है। आज्ञाके बाहर जो धर्म बतलाते हैं, वे मूढ़ हैं। उनमें न विवेक है, न शुद्ध बुद्धि। तो वे रूढ़िमें पड़े डूबे जा रहे हैं।

जिनराज का धर्म बड़ा उज्वल है। वह आज्ञासे प्रमाणित है ।

साधु अपने मन में सोचा करे– 'भगवान की आज्ञा से प्रमाणित धर्म ही मेरा धर्म है। आज्ञा रहित कर्तव्य करना तो दूर रहा उसे अच्छा कहना भी मुझे शोभा नहीं देता'।

मैं कह-कह कर कितना कह सकता हूँ ? आज्ञा के बाहर जरा भी धर्म नहीं। जो आज्ञा के बाहर धर्म कहते हैं उनकी श्रद्धा धूलकी तरह निस्सार है।

स्वामीजी ने जिन-धर्मको उज्वल धर्म कहकर उसे कितना उच्च स्थान दिया है। जिन आज्ञा को ही जैनधर्म की कसौटी बतलाया है। जिन-वाणी की आराधना ही स्वामीजी के जीवनकी सबसे बड़ी साध थी। जिन-आज्ञा रहित कार्य को वे अधम से अधम समझते थे।

केई जिण आज्ञा बारे धर्म कहै
जिण आज्ञा माहे कहै पाप हो। स्वा०।
ते दोनूं विध बूड़ा छै बापड़ा
कूड़ो कर-कर अज्ञानी विलाप हो। स्वा०॥

"कई आपकी आज्ञा के बाहर धर्म बतलाते हैं और आप की आज्ञामें पाप। वे मूर्ख झूठा विलाप कर दोनों तरफ डूब रहे हैं।"

वे फिर कहते हैं :

बाप विन बेटो निश्चै हुवै नहीं
ज्यूं जिन आज्ञा विना धर्म न होय॥ भ०॥
जिन आज्ञा होसी तो जिन-धर्म छै
आज्ञा विन धर्म न होय॥ भ० श्री०॥
मां विन बेटारो जन्म हुवै नहीं
जन्मे ते बांझ न होय॥ भ०॥

"जे परमार्थदर्शी होता है वह अनन्य विश्रामी होता है और जो अनन्य विश्रामी होता है वही परमार्थ दर्शी है। इस पदमें केवली भाषित धर्ममें अडिग--स्थिर भाव को ही परमार्थदर्शी का परम लक्षण बतलाया है। स्वामीजी में एक परमार्थदर्शी की अडिग-निश्चल-श्रद्धा थी। यहाँ हम स्वामीजी की ढालों के कुछ पद देते हैं जिनसे पाठकों को मालूम होगा कि जैन धर्म के प्रति स्वामीजी की श्रद्धा कितनी निश्चल थी और जिन-आज्ञा के विपरीत कर्मों में धर्म मानने के प्रति कितना तीव्र विरोध।

आज्ञा में धर्म छे जिनराजरो
आज्ञा बारे कहे ते मूढ़ रे।
विवेक विकल शुद्ध बुद्ध बिना,
ते बूडे छे कर कर रूढ़ रे॥
श्री जिन धर्म जिन आगन्या बिहे,
उजलो धर्म छे जिनराज रो,
ते तो श्री जिन आज्ञा सहित रे।
मुगत जावा अजोग अशुद्ध कह्यो,
ते तो जिन आज्ञा स्यूं विपरीत रे॥भी०॥
आज्ञा सू सके ते धर्म म्हारो,
एहवो चिन्तवे साधु मन मांय रे॥
आज्ञा बिन करवो जिहांहि रह्यो,
रह्यो बोलवो पिण नवि थाय रे ॥श्री०॥
हूं कहि-कहि ने कितरो कहूँ,
आगन्या बारे नहीं धर्म मूल रे।
आगन्या बारे धर्म कहे तेहना,
श्रद्धा रूप बिना जाणो धूल रे

"भगवान का धर्म उनकी आज्ञामें है। आज्ञाके बाहर जो धर्म बतलाते हैं, वे मूढ़ हैं। उनमें न विवेक है, न शुद्ध बुद्धि। तो वे रूढ़िमें पड़े डूबे जा रहे हैं।

जिनराज का धर्म बड़ा उज्वल है। वह आज्ञासे प्रमाणित है।

साधु अपने मन में सोचा करे– 'भगवान की आज्ञा से प्रमाणित धर्म ही मेरा धर्म है। आज्ञा रहित कर्तव्य करना तो दूर रहा उसे अच्छा कहना भी मुझे शोभा नहीं देता'।

मैं कह-कह कर कितना कह सक्ता हूँ? आज्ञा के बाहर जरा भी धर्म नहीं। जो आज्ञा के बाहर धर्म कहते हैं उनकी श्रद्धा धूलकी तरह निस्सार है।

स्वामीजी ने जिन-धर्मको उज्वल धर्म कहकर उसे कितना उच्च स्थान दिया है। जिन आज्ञा को ही जैनधर्म की कसौटी बतलाया है। जिन-वाणी की आराधना ही स्वामीजी के जीवनकी सबसे बड़ी साध थी। जिन-आज्ञा रहित कार्य को वे अधम से अधम समझते थे।

केई जिण आज्ञा बारे धर्म कहै
 जिण आज्ञा माहे कहै पाप हो। स्वा०।
ते दोनूं विध बूड़ा छे बापड़ा
 कूड़ो कर-कर अज्ञानी विलाप हो। स्वा०॥

"कई आपकी आज्ञा के बाहर धर्म बतलाते हैं और आप की आज्ञामें पाप। वे मूर्ख झूठा विलाप कर दोनों तरफ डूब रहे हैं।"

वे फिर कहते हैं:

बाप बिन बेटो निश्चै हुवै नहीं
 ज्यू जिन आज्ञा विना धर्म न होय॥ भ०॥
जिन आज्ञा होसी तो जिन-धर्म छे
 आज्ञा विन धर्म न होय॥ भ० श्री०॥
मां विन बेटारो जन्म हुवै नहीं
 जन्में ते वांझ न होय॥ भ०॥

"जे परमार्थदर्शी होता है वह अनन्य विश्रामी होता है और जो अनन्य विश्रामी होता है वही परमार्थ दर्शी है। इस पदमें केवली भाषित धर्ममें अडिग--स्थिर भाव को ही परमार्थदर्शी का परम लक्षण बतलाया है। स्वामीजी में एक परमार्थदर्शी की अडिग-निश्चल-श्रद्धा थी। यहाँ हम स्वामीजी की ढालों के कुछ पद देते हैं जिनसे पाठकों को मालूम होगा कि जैन-धर्म के प्रति स्वामीजी की श्रद्धा कितनी निश्चल थी और जिन-आज्ञा के विपरीत कर्मों में धर्म मानने के प्रति कितना तीव्र विरोध।

आज्ञा में धर्म छे जिनराजरो
आज्ञा बारे कहे ते मूढ़ रे।
विवेक विकल शुद्ध बुद्ध बिना,
ते बूडे छे कर कर रूढ़ रे॥

श्री जिन धर्म जिन आगन्या तिहाँ,
इजलो धर्म छे जिनराज रो,
ते तो श्री जिन आज्ञा सहित रे।
मुगत जावा अजोग अशुद्ध कह्यो,
ते तो जिन आज्ञा स्यूं विपरीत रे॥श्री०॥

आज्ञा सूं सके ते धर्म म्हारो,
पहवो चिन्तवे साधु मन मांय रे॥
आज्ञा बिन करवो जिहाँहि रह्यो,
रूडो बोलवो पिण नहि थाय रे॥श्री०॥

हूं कहि-कहि ने कितरो कहूँ,
आगन्या बारे नहीं धर्म मूल रे।
आगन्या बारे धर्म कहे तेहना,
श्रद्धा कण बिना जाणो धूल रे

"भगवान का धर्म उनकी आज्ञामें है। आज्ञाके बाहर जो धर्म बतलाते हैं, वे मूढ़ हैं। उनमें न विवेक है, न शुद्ध बुद्धि। तो वे रुढिमें पड़े डूबे जा रहे हैं।

जिनराज का धर्म बड़ा उज्वल है। वह आज्ञासे प्रमाणित है ।

साधु अपने मन में सोचा करे– 'भगवान की आज्ञा से प्रमाणित धर्म ही मेरा धर्म है। आज्ञा रहित कर्तव्य करना तो दूर रहा उसे अच्छा कहना भी मुझे शोभा नहीं देता'।

मैं कह-कह कर कितना कह सक्ता हूँ ? आज्ञा के बाहर जरा भी धर्म नहीं। जो आज्ञा के बाहर धर्म कहते हैं उनकी श्रद्धा धूलकी तरह निस्सार है।

स्वामीजी ने जिन-धर्मको उज्वल धर्म कहकर उसे कितना उच्च स्थान दिया है। जिन आज्ञा को ही जैनधर्म की कसौटी बतलाया है। जिन-वाणी की आराधना ही स्वामीजी के जीवनकी सबसे बडी साध थी। जिन-आज्ञा रहित कार्य को वे अधम से अधम समझते थे।

केई जिण आज्ञा बारे धर्म कहै
जिण आज्ञा मांहे कहै पाप हो। स्वा०।
ते दोनूं विध बूड़ा छै बापड़ा
कूड़ो कर-कर अज्ञानी विलाप हो। स्वा० ॥

"कई आपकी आज्ञा के बाहर धर्म बतलाते हैं और आप की आज्ञामें पाप। वे मूर्ख झूठा विलाप कर दोनों तरफ डूब रहे हैं।"

वे फिर कहते हैं :

बाप बिन बेटो निश्चै हुवै नहीं
ज्यू जिन आज्ञा बिना धर्म न होय ॥ भ० ॥
जिन आज्ञा होसी तो जिन-धर्म छै
आज्ञा बिन धर्म न होय ॥ भ० श्री० ॥
मां बिन बेटारो जन्म हुवै नहीं
जन्मे ते बांझ न होय ॥ भ० ॥

ज्यूं जिन-आज्ञा बिना धर्म हुवे नहीं
जिन-आज्ञा तिहां पाप न कोय ॥ भ० श्री० ॥
गग्घु पखी ने चोर दोनूं भणी
गमती लागे अंधारी रात ॥ भ० ॥
ज्यूं भारी कर्मा जीव तेहने
जिन-आज्ञा बाहर लो धर्म सुहात ॥भ० श्री० ॥
चोर परदारा सेवण कुशीलिया
ते तो सेरी जोवे दिन रात ॥ भ० ॥
ज्यूं आज्ञा बारे धर्म श्रद्धायवा
उन्धी करे अज्ञानी वात ॥ भ० श्री० ॥
दुष्ट जीव मंजारी ने चितरा
छल सूं करे पर जीवां री घात ॥ भ० ॥
एहवा दुष्ट मिथ्र श्रद्धारा धणी
छलसूं घाले विकलांरे मिथ्यात ॥ भ० श्री० ॥
बिगरायल हुवा न्यात बारे करे
ते बिगरायल फिरे न्यात बहार ॥ भ० ॥
तेहवो धर्म जिन-आगन्या बार लो
तिणमें कदे मत आणो भली धार ॥ भ० श्री० ॥
न्यात बारे त न्यात मांहे नहीं
तिण ने नवि बैसाणे एक पांत ॥ भ० ॥
ज्यूं जिन आज्ञा बिना धर्म अजोग छै
कीधां पूर्ीजे नहीं मन खांत ॥ भ० श्री० ॥
श्री जिन आगन्या बिन करणी करे
ते तो दुरगत रा आगीवाण ॥ भ० ॥

जिन आज्ञा सहित करणी करै
　　　　तिणसूं पामै पद निर्वाण ॥ भ० श्री० ॥

"जिस तरह निश्चय ही बाप विना बेटा नहीं हो सकता, उसी तरह जिन-आज्ञा विना धर्म नहीं होता। जिन-आज्ञा है तब ही जिन धर्म है। जहाँ जिन-आज्ञा नहीं वहाँ जिन-धर्म भी नहीं।

मा विना बेटे का जन्म नहीं होता। जो बेटे को जन्म देती है वह बाँझ नहीं हो सकती। उसी तरह जिन-आज्ञा विना धर्म नहीं हो सकता और जहाँ जिन-आज्ञा है वहाँ कोई पाप नहीं हो सकता।

घुग्घू पक्षी और चोर को अंधेरी रात अच्छी लगती है उसी तरह कर्मों से भारी बने जीवों को जिन-आज्ञाके बाहरका धर्म अच्छा लगता है।

जिस तरह चोर और जार दिन-रात फाक देखते रहते हैं उसी तरह अज्ञानी आज्ञा बाहर धर्म में विश्वास पैदा कराने के लिए बकवाद करते रहते हैं।

बिल्ली और चित्ते जैसे घातक जीव जैसे छल से घात करते हैं उसी तरह दुष्ट-कर्मी और विपरीत श्रद्धावाले मनुष्य छलसे अज्ञानी मनुष्यों के मिथ्यात्व बैठा देते हैं।

जिस तरह भ्रष्ट हुए मनुष्यको जातके बाहर कर दिया जाता है और वह बिरादरी के बाहर भटकता है, उसी तरह भगवान की आज्ञा के बाहर भ्रष्ट धर्म है। उसमें जाने वाले की कभी अच्छाई नहीं हो सकती।

जो जाति बाहर होता है वह बिरादरी के सामिल नहीं होता और उसे कोई अपनी पातमें नहीं बैठाता, उसी तरह जिन-आज्ञा रहित धर्म अयोग्य होता है। ऐसे धर्म को माननेवाला मोक्षार्थियों की श्रेणी में नहीं आ सकता। जिन-आज्ञाके बाहर के धर्म के आचरणसे मनकी इच्छा फलीभूत नहीं होती।

जो जिन-आज्ञा रहित कार्य करते हैं, वे दुर्गति के अग्रणी हैं। जिन-आज्ञा के कार्य करने से ही निर्वाण-पद मोक्ष की प्राप्ति होती है।"

स्वामीजी के उपरोक्त उद्धरणों से साफ प्रगट है कि स्वामीजी के जीवन की एक

एक पल जिन-आज्ञा की आराधना के लिए न्यौछावर थी। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन जिन-आज्ञा की पुनर्प्रतिष्ठा के लिए अर्पित कर दिया। जिन-शासन के अनन्य भक्त और पुजारी को जैन धर्म का द्रोही और निन्हव घोषित करना सत्य की निमम हत्या है।

जयाचार्य ने ठीक ही कहा है —

धर्म आज्ञा बारे धारने
भेषधारयां माण्डो भ्रम जाल। सुज्ञानी रे।
थिर नींव आज्ञा भिक्षु थापने
चारू जिन वच थाप्या विशाल ॥ सुज्ञानी रे ॥
भ द्रा दुर्लभ देवी कही

"जिन-आज्ञा के बाहर धर्म बतला कर भेषधारियों ने भ्रम जाल खड़ा कर रक्खा था। स्वामीजी ने जिन-आज्ञा रूपी स्थिर नींव पर जैन धर्म रूपी विशाल भवन की पुन स्थापना की।"

श्रीमद् जयाचाय ने इन थोड़े से शब्दों में स्वामीजी के जीवन की पृष्ठ भूमिका पर सुन्दर प्रकाश डाला है—स्वामीजी के जीवन के ताने बाने का सूक्ष्म उद्घाटन कर दिया है। वास्तव में स्वामीजी के जीवन का समूचा ढांचा जिन–आज्ञा रूपी रीढ़ के बल खड़ा है। जैसे समुद्र का पक्षी जहाज के मस्तूल के चारों ओर उड़ा करता है और मस्तूल पर ही अपना आश्रय-स्थल देखता है उसी तरह स्वामीजी जैन धर्म रूपी मस्तूल के इर्द गिर्द चक्कर लगाते और जिन–आज्ञा प्रमाणित धमको ही अपनी आत्माका विश्राम स्थल मानते।

उन्हें दृढ़ आस्था थी "तीर्थंकर भाषित सद्धर्म द्वीप तुल्य है। जिस तरह द्वीप पर ठहरने वाला प्राणी समुद्र के जलसे नहीं छुआ जाता उसी तरह जिन-भाषित धम को शरण लेनेवाला पाप से नहीं छुआ जा सकता।"

जीवन व्यापी मनन और चिन्तन के बाद उनकी अनुभव वाणी है

"केवली भाख्यो धर्म मंगलीक छै
ओहिज उत्तम जाणरे—
शरणो पिण ल्यो इण धर्म रो
तिणमें श्री जिन-आज्ञा प्रमाण रे।"

"केवली भगवान का कहा हुआ धर्म ही मंगल है। वही उत्तम है। इसी धर्म की शरण लो। जैनधर्म जिन-आज्ञासे प्रमाणित है।'

स्वामीजी के जीवन की विरासत इस अनुभव वाणी में संचित है। यही उनके जीवनकी अमोलक देन है।



मय पुञ्ज थे। एक तेज सूर्य की तरह—उनकी आत्मा एक दिव्य चैतन्यता की—एक अद्‌भुत ज्ञान-ज्योति की—अखण्ड और जाज्वल्यमान मूर्ति थी। वे दुनिया के लिए एक दिव्य नेत्र थे—खोई हुई दृष्टि और खोया हुआ जीवन-पथ देने वाले—एक प्रकाश-स्तंभ। उन्होंने दिन-दिन अधिक उद्योत करते हुए अज्ञानांधकार को मिटा, घट-घट में ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित की। वे एक महान् उद्योतकारी महा-पुरुष थे।

वे एक महान् क्रांतिकारी भिक्षु थे। केवल विनाश के नहीं पर विनाश और विकाश दोनों के प्रतीक। वे भय-भैरव भी थे और शीतल मेघ वर्षा भी। ढोंग और पाखण्ड के लिए वे भयंकर भैरव थे और शुद्ध-जीवन के लिए मेघ की शीतल-धारा। विशुद्ध आचार-विचार को पोषण देकर उन्होंने उसे हरा-भरा किया और पाखण्ड और शिथिलाचार को चुनौती देकर उसे दव-दग्ध-सा कर दिया। वे एक केसरी पुरुष थे और महान् संत पुरुष भी। उनमें सिंह का-सा पौरुष और सिंह की-सी दहाड़ थी पर साथ ही उनके प्रवचनों में जीवन का रस और भावों में सन्त-वाणी का अमर प्रवाह था। वे अपने जमाने के महा भयंकर पुरुष भी कहलाए और एक महान् आध्यात्मिक संत भी।

अन्तर-भेदी दृष्टि—जिसके सामने गूढ़ता टिक नहीं सकती, आशु प्रज्ञा—जो चकाचौंध जानती नहीं, दूरदर्शिता—जो स्खलित नहीं होती—ये उनके जीवन के सहज गुण थे। वे एक महान् दूरदर्शी प्राज्ञ चक्षु साधु थे।

घी से सींची हुई निर्धूम अग्नि की तरह निर्मल ज्ञान, ध्रुव की तरह निश्चल श्रद्धा और स्फटिक की तरह स्वच्छ चारित्र इनके वे महान् पवित्र सगम थे। श्रीमद् जयाचार्य कहते हैं—"स्वाम जिसा चौथे आरे पिण, विरला संत विचार" "चौथे आरे में भी स्वामीजी से संत विरले होंगे।" जो स्वामीजी के जीवन का गहरा अध्ययन करेंगे उन्हें जयाचार्य के शब्दों में शुद्ध सत्य ही मिलेगा।

वे एक महान् बहुश्रुति अणगार थे—जो जैन तत्वज्ञान और आध्यात्म के गूढ़ार्थ—

एक सजीव बृहद् टीका थे जो बुद्धिमान बहुश्रुति होने पर भी महान् स्थिर प्रज्ञावान थे और जिन्होंने विचार उच्चार और आचारमें केवल प्रभु जिन वचनों को ही स्थान दिया था।

वे एक महान् धर्माचार्य थे—जिनमें आचार्य की आठों सम्पदा एक साथ स्पर्श करतीं। वे एक महान् मर्यादा पुरुषोत्तम थे, जिन्होंने आध्यात्मिक-जीवन का महान् सेतु बांधा; जिनका कठोर अनुशासन—"वज्रादपि कठोराणि" की उपमा को चरितार्थ करता था, जिन्होंने पग-पग पर जीवन-सूत्र दिए, जीवन-पथ दिया—निर्मल विवेक और सूक्ष्म उपयोग दिया।

वे छिन्न-भिन्नता में महान् संगठन की कल्पना, स्वच्छन्दता में एकात्मक सत्ता की प्रत्यषा तथा संघ और संयोजक शक्ति के एक महान् केन्द्र थे। एक महान् व्यवस्थापक, महान् नियामक महान् संचालक तथा प्रबुद्ध और अग्रगामी नेता थे।

वे एक महान् तपस्वी थे—जिन्होंने कष्ट और विपदाओं की परवाह नहीं की—भूख और प्यास को नहीं गिना—परन्तु जो एक ही तमन्ना से, एक ही धैर्य से, एक ही साहस और एक ही रस से जीवन भर जिन-शासन के उद्धार का कार्य करते रहे। वे जिन-शासन के एक महान् उद्धारक थे जिनका त्याग और बलिदान अपनी सानी नहीं रखता। उनकी साधना एक योगी की अखण्ड साधना थी, जिसमें न विराम था, न शिथिलता न मन्दता पर जो एक अविरल प्रवाह की तरह निरन्तर बहती थी।

एक महान् तत्वज्ञानी—जो गूढ़ को सरल कर देते एक महान् आध्यात्मिक संत—जो आत्मिक-भावनाको एक स्रोतस्विनी बहा देते जीवन-काव्यके एक ओजस्वी कवि—जो जीवनमें चेतना भर देते—एक महान् धर्मकथी और दृष्टान्तिक—जो देखते-देखते अन्तर दृष्टि-उन्मष कर देते—वे एक ऐसे ही संस्कार-सम्पन्न लाक्षणिक महापुरुष थे जिनके व्यक्तित्वमें एक अद्भुत सजीवता एक अद्भुत आकर्षण और एक अद्भुत प्रतिभा थी।

वे दया, अहिंसा और साम्यभाव की साकार मूर्ति थे जिनकी दृष्टि में छोटे-बड़े का कोई अन्तर नहीं था, जो एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय में केवल इन्द्रिय और शरीर आदि का ही अन्तर समझते, परन्तु आत्मिक दृष्टि से किसी भेद की कल्पना नहीं करते थे। जिन की तुला में सूक्ष्म-से-सूक्ष्म जीव के प्राणों की भी उतनी ही कीमत थी, जितनी कि दुर्लभ मनुष्य के जीवन की। जिन्होंने आपेक्षिक कीमत के झूठे और अन्यायपूर्ण तरीके को कभी प्रश्रय नहीं दिया पर मनुष्येतर प्राणियों के प्रति भी 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावनाको पुनःस्थापित कर जिन-भाषित अहिंसाका सूक्ष्म विवेक जागृत किया। अहिंसा की प्राण-प्रतिष्ठा के लिए उनका दुर्धर्ष संग्राम—उनका आजीवन व्यापी गंभीर संघर्ष जिन-शासन के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित होगा।

महा ऋषि, महा माहण, महा गोप, महा जितेन्द्रिय, महा तपस्वी, महा स्वाध्यायी, महा आत्म-ज्ञानी, महा दार्शनिक, महा तार्किक, महा कवि, महा अध्यापक, महा उपदेष्टा, महा प्राज्ञ, महा पुरुषार्थी, महा धृतिवान, महा श्रद्धाशील, महा साहसी—वे क्या नहीं थे, जिसमें वे महान् नहीं थे? वे एक अद्‌भुत व्यक्तित्वके धारक महान पुरुष थे, जिनमें आत्मा और मस्तिष्क के सब गुणों ने महान् विकास पाया था।

लोग कहेंगे तुम भावना में बह गए—एक अतिरंजित चित्र खींच दिया। परन्तु हम कहेंगे हमने स्वामीजी के असीम व्यक्तित्व को सीमा बद्ध कर दिया, जो हमने उनको अमुक-अमुक कह दिया। कवि सूर्य की अशेष रश्मियों को गिन नहीं सके इसलिए उसे सहस्र रश्मि कह दिया। हमने भी स्वामीजी को अमुक-अमुक दिशाओं में ही महान् कहकर अपनी असमर्थता को ही प्रगट किया है। अन्यथा स्वामीजी एक असीम व्यक्ति थे— एक अमाप्य पुरुष थे— जिनके सम्बन्ध में जयाचार्य की निम्न-लिखित गाथा ही ठीक बैठती है.—

"आशा पूरण आप तणा गुण, कह्या कठा लग जाय।
सागर जल गागर किम मावै, किम आकाश मिणाय॥"

———

एक सजीव शुद्ध टीका थे जो बुद्धिमान बहुश्रुति होने पर भी महान् स्थिर प्रज्ञावान थे और जिन्होंने विचार उच्चार और आचारमें केवल ध्रुव जिन वचनों को ही स्थान दिया था।

वे एक महान् धर्माचार्य थे—जिनमें आचार्य की आठों सम्पदा एक साथ स्पर्श करती। वे एक महान् मर्यादा पुरुषोत्तम थे, जिन्होंने आध्यात्मिक-जीवन का महान् सेतु बांधा, जिनका कठोर अनुशासन—"वज्रादपि कठोराणि" की उपमा को चरितार्थ करता था जिन्होंने पग-पग पर जीवन-सूत्र दिए जीवन-पथ दिया—निर्मल विवेक और सूक्ष्म उपयोग दिया।

वे छिन्न-भिन्नता में महान् संगठन की कल्पना, स्वच्छन्दता में एकात्मक सत्ता की प्रत्यथा तथा संघ और संयोजक शक्ति के एक महान् केन्द्र थे। एक महान् व्यव स्थापक, महान् नियामक महान् संचालक तथा प्रबुद्ध और प्राग्गामी नेता थे।

वे एक महान् तपस्वी थे—जिन्होंने कष्ट और विपदाओं की परवाह नहीं की—भूख और प्यास को नहीं गिना—परन्तु जो एक ही तमन्ना से, एक ही धैर्य से, एक ही साहस और एक ही रस से जीवन भर जिन-शासन के उद्धार का श्रम करते रहे। वे जिन-शासन के एक महान् उद्धारक थे, जिनका त्याग और बलिदान अपनी सानी नहीं रखता। उनकी साधना एक योगी की अखण्ड साधना थी जिसमें न विश्राम था, न शिथिलता न मन्दता पर जो एक अविरल प्रवाह की तरह निरन्तर बहती थी।

एक महान् तत्त्वज्ञानी—जो गूढ़ को सरल कर देते एक महान् आध्यात्मिक संत—जो आत्मिक-भावनाको एक स्रोतस्विनी बहा देते जीवन-काव्यके एक ओजस्वी कवि—जो जीवनमें चेतना भर देते—एक महान् धर्मकथी और दृष्टान्तिक—जो देखते-देखते अन्तर दृष्टि-उन्मय कर देते—वे एक ऐसे ही संस्कार-सम्पन्न लाक्षणिक महापुरुष थे जिनके व्यक्तित्वमें एक अद्भुत सजीवता, एक अद्भुत आकर्षण और एक अद्भुत प्रतिभा थी।

वे दया, अहिंसा और साम्यभाव की साकार मूर्ति थे जिनकी दृष्टि में छोटे-बड़े का कोई अन्तर नहीं था, जो एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय में केवल इन्द्रिय और शरीर आदि का ही अन्तर समझते, परन्तु आत्मिक दृष्टि से किसी भेद की कल्पना नहीं करते थे। जिन की तुला में सूक्ष्म-से-सूक्ष्म जीव के प्राणों की भी उतनी ही कीमत थी, जितनी कि दुर्लभ मनुष्य के जीवन की। जिन्होंने आपेक्षिक कीमत के झूठे और अन्यायपूर्ण तरीके को कभी प्रश्रय नहीं दिया पर मनुष्येतर प्राणियों के प्रति भी 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावनाको पुनःस्थापित कर जिन-भाषित अहिंसाका सूक्ष्म विवेक जागृत किया। अहिंसा की प्राण-प्रतिष्ठा के लिए उनका दुर्धर्ष संग्राम—उनका आजीवन व्यापी गंभीर संघर्ष जिन-शासन के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित होगा।

महा ऋषि, महा माहण, महा गोप, महा जितेन्द्रिय, महा तपस्वी, महा स्वाध्यायी, महा आत्म-ज्ञानो, महा दार्शनिक, महा तार्किक, महा कवि, महा अध्यापक, महा उपदेष्टा, महा प्राज्ञ, महा पुरुषार्थी, महा धृतिवान, महा श्रद्धाशील, महा साहसी—वे क्या नहीं थे, जिसमें वे महान् नहीं थे? वे एक अद्भुत व्यक्तित्वके धारक महान पुरुष थे, जिनमें आत्मा और मस्तिष्क के सब गुणों ने महान् विकास पाया था।

लोग कहेंगे तुम भावना में बह गए—एक अतिरंजित चित्र खींच दिया। परन्तु हम कहेंगे हमने स्वामीजी के असीम व्यक्तित्व को सीमा बद्ध कर दिया, जो हमने उनको अमुक-अमुक कह दिया। कवि सूर्य की अशेष रश्मियों को गिन नहीं सके इसलिए उसे सहस्र रश्मि कह दिया। हमने भी स्वामीजी को अमुक-अमुक दिशाओं मे ही महान् कहकर अपनी असमर्थता को ही प्रगट किया है। अन्यथा स्वामीजी एक असीम व्यक्ति थे— एक अमाप्य पुरुष थे— जिनके सम्बन्ध में जयाचार्य की निम्न-लिखित गाथा ही ठीक बैठती है:—

"आशा पूरण आप तणा गुण, कह्या कठा लग जाय।
सागर जल गागर किम मावें, किम आकाश मिणाय ॥"

———

: २ :

एक महान् आदर्शवादी साधु

स्वामीजी का जन्म उस समय हुआ था, जब जैन-धर्म प्राय: मरणासन्न हो अन्तिम सांसे गिन रहा था। उस समय के जैनियों में न सिद्धान्त-बल बचा था और न आचार—चारित्र बल ही। दोनों मूली-गाजर की तरह बिके किए जा रहे थे। साधु और श्रावक दोनों एक पीढ़ी बैठ चुके थे। छद्म भेषियों की करतूतों से शुद्ध साधुत्व और श्रावकत्व दोनों रास्ते लग चुके थे। भेषधारी साधु अपनी मनमानी कर रहे थे। धर्म के नाम पर उन्होंने श्रावकों को लूटने का धन्धा खड़ा कर रक्खा था। शुद्धाचार का नाम लेने से वे काल—जमाने का बहाना लेकर कहते—"इस आरे—काल में शुद्धाचार का पूरा-पूरा पालन नहीं हो सकता।" शुद्धाचार का पक्ष लेकर कोई खड़ा होता तो उसका गला घोंटने की कुचेष्टा की जाती थी। स्वामीजी ऐसे ही समय में एक धन्वन्तरि वैद्य की तरह उत्पन्न हुए। उन्होंने मरणोन्मुख जैन धर्म को अमृत-घूंट पिला, नया जीवन-दान दिया। संघ के जीर्ण-शीर्ण शरीर में नवीन जीवनी-शक्ति पैदा की। अपने उच्चकोटि के आदर्शमय जीवन द्वारा समाज में धार्मिक जीवन के पवित्र आदर्श को पुन: प्रतिष्ठापित कर उसकी असली कीमत को परखा, भूले-भटके जन-समाज को फिर से सन्मार्ग पर लगाया।

स्वामीजी का सिद्धान्त—"पल-पल पवित्र जीवन" था। अपने साधु-जीवन में उन्होंने अपने इस सिद्धान्त की निरन्तर साधना की और इसे कभी आंच न आने दी।

"जावज्जीवम विस्सामो गुणाणं तु महब्भरो"—"इस वृत्ति में विश्राम कहां! साधु-जीवन में यावज्जीवन गुणों का महा भार उठाना पड़ता है।"

यह पद स्वामीजी के लिए महान् उपदेशपद था। कंखे गुणे जाव सरीर भेउ"—"आत्मज्ञ शरीरपात पर्यन्त गुणों की उपासना करे"—भगवान की यह आज्ञा उनके जीवन का अमर सूत्र बन गया था।

स्वामीजी चरित्रहीन साधु और क को पोली—खाली मुट्ठी का साथी कहा करते। उनका कहना था:—"जैसे कोई हवा के सन्मुख होकर घट्टी (चक्की) चलाने बैठता है तो वह ज्यों-ज्यों पीसता है त्यों-त्यों आटा उड़ता जाता है और उसका सारा परिश्रम व्यर्थ होता है, ठीक उसी तरह जो व्रत और प्रत्याख्यान लेकर दृढ़ भावना से उनका पालन और गोपन नहीं करता, जान-बूझकर दोष सेवन करता है और प्रायश्चित नहीं करता, उसका सारा करा-कराया व्यर्थ जाता है।" "जिस तरह चरवाहा गायों का रक्षक होता है, उनका मालिक नहीं, उसी तरह जो चारित्र का पालन नहीं करता, वह केवल भेष का बोझ ढोनेवाला होता है। वह आत्मार्थ नहीं साध सकता।" इस बात को वे रात दिन साधुओं और श्रावकों के समक्ष रखते और उन्हें पवित्र जीवन की प्रेरणा देते। चारित्रिक स्वच्छता पर स्वामी कितना जोर दिया करते थे—यह उनके जीवन की निम्नोक्त घटना के सूक्ष्म अवलोकन से स्पष्ट हो जायगा :

एक बार स्वामीजी से किसी ने कहा—"बहुत लोग आपके पीछे पड़े हुए हैं। वे आपके दोष निकालते रहते हैं।" स्वामीजी बोले :"यह तो अच्छा ही है, भले ही निकालें। अवगुण तो निकालने—दूर करने के ही होते हैं, रखने के नहीं। कुछ हम निकाल रहे हैं और कुछ वे निकाल देंगे। हमें तो आत्मा उज्ज्वल करनी है।" स्वामीजी आत्मगवेषी थे अतः अनुचित बात को भी उचित रूप में लेते। जब कोई उनमें दोष निकालता तो वे तुरन्त ही अन्तर-दृष्टि डालते। दोषों की तालिका उनके लिए अन्तरशुद्धि की तालिका हो जाती। "समा निन्दापसंसासु तहा माणाव माणओ"—निन्दा और प्रशंसा, मान और अपमान—सब में सम-भाव—यह उच्चादर्श उनके जीवन का सहज

सिद्धान्त हो गया था।

एक बार स्वामीजी ने अपने परम शिष्य बालक साधु भारीमालजी से कहा "हे भारीमाल! यदि कोई तुम में दोष निकाले तो तीन दिन का उपवास करना होगा।" ऋषि भारीमालजी बोले: "स्वामीनाथ! ये तेले (तीन दिन के उपवास) तो रोज ही करने पड़ते दिखाई देते हैं क्योंकि द्वेषी बहुत हैं। उनके लिए दोष मढ़ना तो एक सहज बात है।" इस उत्तर को सुन कर स्वामी जी ने जो गम्भीर बात कही वह उनकी अन्तर भावनाओं पर बड़ा सुन्दर प्रकाश डालती है। स्वामीजी बोले "यदि कोई सच्चा दोष निकाले तो उस दोष-सेवन से लगे पाप की शुद्धि के लिए दण्ड-स्वरूप तेला करना होगा और यदि कोई झूठ-मूठ—व्यर्थ ही दोष निकाले तो अशुभ कर्मों का उदय समझ उसके नाश के लिए तेले की तपस्या करनी होगी।" वे निंदक के प्रति इसलिए उदारभाव रखते थे कि यदि वह सच्चा दोष बतलाता है तो आत्मगवेषी पुरुष के लिए मित्र समान होता है। यदि वह झूठ ही दोष बतलाता है तो कम-से-कम कर्मों के उदय की सूचना अवश्य देता है और उन कर्मों को समभाव और तपस्या आदि द्वारा क्षय करने का अवसर बतलाता है। सोने को शुद्ध करने के लिए जैसे उसे तीव्र आँच में तपाया जाता है, उसी तरह स्वामीजी अपनी आत्मा को शुद्ध करने के लिए उसे निरन्तर यम रूपी भट्टी में तपाया करते और अपने शिष्यों को भी वैसी ही शिक्षा देते।

एक बार स्वामीजी पादु शहर पधारे। साथ में हेम ऋषि भी थे। एक श्रावक हेम ऋषि की चद्दर को हाथ में लेकर बोला "यह चद्दर शास्त्रीय प्रमाण से लम्बी है।" स्वामीजी ने तुरन्त चद्दर को हाथ में ले उसकी लम्बाई-चौड़ाई नाप दिखाई। वह शास्त्रीय प्रमाण के अनुसार थी। श्रावक शर्मिन्दा हुआ। वह बोला: "मुझे झूठ ही सन्देह हुआ।" स्वामीजी गम्भीर होकर बोले "क्या तुम ने हम लोगों को इतना नादान समझ लिया है कि चार अंगुल कपड़े के लिए संयम

जैसी सार वस्तु को खो देंगे ? हम गांवानुगांव विहार करते हैं, रास्ते में हमें कोई नहीं देखता, तब तो हम कच्चा जल भी पी लेते होंगे ? यह हमने कोई साधुपन का ढोंग नहीं रचा है। हमारी आत्मा ही हमारे सच्चे साधुत्व की साक्षी है। सतों के प्रति ऐसा अविश्वास भविष्य में न करना।" स्वामीजी और उनके संत इसी तरह आत्म-साक्षी पूर्वक शुद्ध चारित्र का पालन करते थे। स्वामीजी कहा करते : "धर्म आत्मा की वस्तु है। उसका पालन अन्तस्थल से होना चाहिए।" "निरट्ठिया नग्गरुई उ तस्स जे उत्तमट्ठे विवयासमेइ।" उसकी निर्ग्रन्थ-रुचि साधु-भाव निरर्थक है जो उत्तमार्थ में भी विपर्यास भाव को प्राप्त होता है। शस्त्र को उलटा पकड़ने से जैसे वह शस्त्रधारी को ही घात करता है, उसी तरह जो ग्रहण किए हुए धर्मका विपर्यास करता है, वह दुर्गति को प्राप्त होता है।" सूत्रों के इन वचनों को वे माला की तरह हृदय में फेरते रहते और अन्तरभावना से धर्मका पालन करते।

स्वामीजी की दृष्टि में धर्म कोई 'आरामकुर्सी' न थी, जिसपर बैठकर हम यदाकदा मन—बहलाव किया करें। वे इसे निरन्तर साधना की वस्तु समझते और कहा करते थे : "सुख में धर्म का पालन सरलता से हो सकता है, परन्तु वास्तव में कोई धार्मिक पुरुष है या नहीं, इसकी कसौटी तो विपत्ति-काल ही है।"

किसी ने एक बार कहा—"कारण पड़ने पर—आपत्ति-काल में साधु अप्रासुक चीज भी ले सकता है, इसमें दोष नहीं। ऐसे मौके पर अशुद्ध वस्तु देने वाले श्रावक को 'अल्प पाप, बहु निर्जरा' होती है।" स्वामीजी ने कहा:—"राजपूत का लड़का यदि कायरतापूर्वक पीठ दिखाकर संग्राम-भूमि से भाग चले, तो उसे कौन बहादुर कहेगा ? राजा उसे पट्टे का—सनद का भोग कैसे करने देगा ? लोगों में उसकी आबरू क्या खाक रहेगी ? उसी तरह भगवान के पट्टे को—उनकी मुद्राको धारण करने वाले साधु यदि आपत्ति कालमें अशुद्ध (अकल्प्य) ले और देने वाले को अल्प-पाप बहु निर्जरा बताये, तो न केवल इस लोक में, परन्तु परलोक

में भी उसकी आबरू मिट्टी में मिल जायेगी। कष्ट के समय अपने लिये हुए व्रतों पर और अधिक अटल रहकर अपनी सच्चाई का परिचय देने की जरूरत है, न कि शिथिलाचार को ग्रहण कर भ्रष्ट होने की।" वे कहते कि सुख की घड़ी हो या दुख की, धर्म तो प्रत्येक श्वासोच्छ्वास के साथ चलना चाहिये।

स्वामीजी का आन्तरिक-जीवन बड़ा निर्मल था। वह स्फटिक की तरह स्वच्छ था। साधु-जीवन की क्रियाओं का वे बड़े विवेक और उपयोग के साथ पालन करते। इसकी झांकी निम्नलिखित घटना से मिलेगी

एक बाई (महिला) ने स्वामीजी से कई बार भिक्षा के लिये पधारने की प्रार्थना की। एक दिन स्वामीजी गोचरी पधारे। उन्हें देखकर वह बाई बहुत खुश हुई। वह भिक्षा अर्पित कर ही रही थी कि स्वामीजी ने प्रश्न किया: "मालूम पड़ता है, इसके बाद तुझे हाथ धोने होंगे।" वह बोली—"हां! हाथ तो धोने ही पड़ेंगे।" स्वामीजी ने पूछा—"हाथ कच्चे पानी से धोओगी या पक्के पानी से?" उसने उत्तर दिया—"गर्म जल से।" स्वामीजी ने फिर पूछा—"हाथ कहां धोओगी?" उसने नाली की ओर संकेत करते हुए कहा—"यहां पर।"स्वामीजीने पुनः पूछा—"यह जल कहां गिरेगा?" उत्तर मिला—"यह तो नीचे गिरेगा।" इस पर स्वामीजी ने कहा—"यह जल गिरने से वायुकाय आदि जीवों की हिंसा होगी, इसलिए हमें आहार लेना नहीं कल्पता।" उसने कहा—"आप आहार देखकर लीजिये। हम गृहस्थ बाद में क्या करते हैं, उससे आपको क्या प्रयोजन? अपनी सांसारिक क्रिया को हम कैसे छोड़ें?" स्वामीजी बोले—"बाई! यदि तू कर्म-बन्ध की हेतु अपनी सावद्य क्रिया को नहीं छोड़ सकती, तो रोटी के लिए मैं अपनी सच्ची-क्रिया को कैसे छोड़ूं?" यह कहकर वे—वहां से चले गये। गोचरी करते समय वे कितनी छान-बीन करते थे, इसकी कल्पना उपरोक्त घटना से की जा सकती है। वे आहार मिलने अथवा न मिलने की कोई परवाह न करते थे। उनकी दृष्टि शुद्ध आचार पर रहती थी।

"भारण्ड पक्खीव चरे अपमत्ते"—भारण्ड पक्षी की तरह अप्रमादपूर्वक जीवन-चर्या करना—यही उनके जीवन का उच्चादर्श था।

एक बार जब स्वामीजी आ० रघनाथजी के संघ में थे, किसी दर्जीके घर गोचरी पधारे। दर्जी ने कहा : "आपका एक साधु कल हमारे यहां से गुड ले गया है, इसलिए आज आपको हमारे यहां भिक्षा नहीं कल्पती।" स्वामीजी ने स्थानक वापस जाकर सबसे पूछा—"कल दर्जी के यहां से गुड़ कौन लाया?" परन्तु किसी साधु ने 'हां' में उत्तर नहीं दिया। सब मौन रहे। स्वामीजी सब साधुओं को ले दर्जीके पास पहुंचे और उससे पूछा—"इनमें से कौन तुम्हारे यहांसे गुड़ ले गया?" तब उस दर्जी ने जयमलजी के संघ के बालक साधु रायचन्दजी की ओर संकेत किया। झूठ प्रगट होने से वह सबके सामने बड़ा शर्मिन्दा हुआ। स्वामीजी ने इस बात का निचोड़ इसलिये किया कि जिससे कोई साधु भविष्य में इस तरह चालाकी से काम लेने का दुस्साहस न करे। स्वामीजीको सत्य से बड़ा प्रेम था। वे झूठ को जरा भी पसंद नहीं करते थे।

एक बार गैया और पीपाड़ के बीच स्वामीजी को एक अन्य सम्प्रदाय का साधु मिला। वह स्वामीजी को एकान्त में ले गया। स्वामीजी को कुछ देर लगी। ऋषि हेमराजजी साथ में थे। वापस आने पर ऋषि हेमराजजी ने स्वामीजी से पूछा : "उस साधु से आप की क्या बातचीत हुई?" स्वामीजी बोले : "उसने मेरे सामने आलोचना की—कोई आत्म-दोष स्वीकारा।" हेमराजजी स्वामी ने फिर पूछा—"क्या 'आलोचना' की?" स्वामीजी बोले : "एक की आलोचना दूसरे को बताना नहीं कल्पता।"

कसौटी नहीं हो सकती। किसी ने पूछा : "आपका यह कठिन मार्ग कितने वर्ष तक चलता दीखता है ?" स्वामीजी ने उत्तर दिया "जब तक साधु और साध्वियां श्रद्धा-आचार में दृढ़ रहेंगे वस्त्र-पात्र-उपकरण आदि की मर्यादा का लोप—भंग नहीं करेंगे और अपने लिए स्थानक नहीं बनायेंगे।" स्वामीजी शुद्धाचार को ही जीवन और जीवन-शक्ति समझते थे। शुद्धाचार को ही वे स्थिर नींव समझते थे—यह उपरोक्त प्रसंग से साफ-साफ प्रगट है। वे साधुओं को इन बातों में निरन्तर पवित्र रहने का उपदेश दिया करते थे।

स्वामीजी वृद्धावस्था में भी खड़े-खड़े 'प्रतिक्रमण' किया करते। यह देख कर किसी श्रावक ने एक बार कहा "स्वामीजी! आपकी अवस्था अब पक चुकी है—आप बहुत वृद्ध हो चुके हैं, अब आप बैठे-बैठे 'प्रतिक्रमण' करें तो ठीक रहे। इतना कष्ट क्यों करते हैं ?" स्वामीजी ने उत्तर दिया "यदि मैं ही बैठ कर प्रतिक्रमण करूँ तो बाद में होने वाले साधु कहीं लेट कर प्रतिक्रमण करने लगें।" स्वामीजी कितने अग्र-सोची और आत्मार्थी थे! वे अपने भावी शिष्यों के लिये कितना उदाहरण छोड़ गये—यह उपरोक्त घटनासे साफ प्रगट होता है।

स्वामीजी पवित्र जीवन के मूर्तिमान स्वरूप थे। स्वामीजी को पवित्रता—निर्मलता में बड़ा आनन्द और गौरव मालूम देता। यही कारण है कि वे संख्या बढ़ाने की ओर कभी नहीं झुके। पात्र देख कर दीक्षा देना'—शिष्य बनाने के सम्बन्ध में शुरू से ही उनका यही सूत्र रहा। अपनी अन्तिम शिक्षा में भी उन्होंने अपने शिष्यों को यही अमोलक धरोहर छोड़ी

"जिण तिण रे निण तिण ने मत मूंडजो
दीक्षा दीज्यो देख-देख"

वे कहा करते "जो जिस-तिस को मुण्ड कर अपने मत को बढ़ाने की फिक्र में रहते हैं, वे गुणहीन वेष को प्रोत्साहन देते हैं। वे साधु का स्वांग रच कर कर्मों से विशेष भारी होते हैं।"

एक वार स्वामीजी ने दृष्टान्त दिया : "जिस तरह जवरदस्ती चित्ता पर चढ़ा कर वनाई हुई सती को अगर कोई वन्दना कर कहे : 'हे माता! मेरा तेजरा वुखार दूर करो'—तो वह क्या खाख वुखार मिटायेगी? उसी तरह उदर-पूर्ति के लोभ से साधु-वेश धारण करने वालों से चारित्र-पालन की आशा करना आकाश-कुसुमवत् है। दीन-दयाल भगवान् ने चारित्र को महादुष्कर कहा है। वह जिस-तिस से नहीं पाला जा सकता।"

स्वामीजी दीक्षा के विषय में कितने सतर्क थे, इस सम्वन्ध में हम यहां एक प्रसङ्ग उपस्थित करते हैं :

किसी ने स्वामीजी से कहा : "मेरा दीक्षा लेने का विचार है—मुझे दीक्षा दीजिये।" स्वामीजी वोले—"दीक्षा का विचार ठीक है, परन्तु वह महा दुष्कर कार्य है। तुम्हारे लिए यह कार्य कठिन है। तुम्हारा कच्चा मन कुटुम्वियों के मोह के आगे स्थिर नहीं रहता।" यह सुन कर दीक्षार्थी वोला—"आप ठीक कहते हैं, सम्वन्धियों को रोते देखता हूँ तो आँसू तो आ ही जाते हैं।"

स्वामीजी वोले : "जव दुल्हा वधू को लेकर ससुराल से विदा होता है तो उस समय दुलहन के ही अश्रुपात होता है। दुल्हा तो हर्षित ही रहता है। पीहर के मोहवश दुलहन का रोना स्वाभाविक ही होता है, पर यदि दुल्हा ही रोने लगे तो लोग क्या समझें? तुम्हारे दीक्षा लेने के विचार से तुम्हारे कुटुम्वी-जनों का मोह विह्वल होना स्वाभाविक है, परन्तु तुम उनके प्रति मोह कैसे कर सकते हो? तुम से सयम-भार नहीं उठ सकता। तुम दीक्षा के योग्य नहीं। जिसे 'गिहंसि न रइं लभे'—घरमें जरा भी रति नहीं होती—जो ससार में जरा भी आनन्द नहीं पाता—वही दीक्षा के योग्य है।"

सूत्रों में कहा है—"भिक्षु को सहस्रों गुण धारण करने पड़ते हैं। शत्रु मित्र—सारे जगत् से समभाव रखना, अप्रमत रहकर मृषावाद से वचना, दन्त-शोधन की शली तक भी विना दिए न लेना, उग्र ब्रह्मचर्य का पालन करना,

सर्व परिग्रह से विरक्त रहकर ममत्व को दूर रखना, सूर्यास्त के पहले-पहले भोजन कर लेना और किंचित् भी भोजन-सामग्री का संचय नहीं रखना, भूख प्यास आदि के परिषह झेलना—यह सब महा दुष्कर है। संयम लोह भार की तरह गुरु है, बालू के कवल की तरह नीरस है, तलवार की धार पर चलने के समान कठिन है तथा लोहे के चनों को चबाने के सदृश दुष्कर है।" स्वामीजी संयम को ऐसा ही दुर्धर समझते थे।

"तहा दुक्खं करेउं जे, कीयेण समणत्तणं"—'श्रमणत्व का पालन क्लीव से—सत्व हीन से नहीं हो सकता'—यह वचन स्वामीजी के हृदय में दृढ़ बध थे और इसी कारण से वे जो आ जाता उसी को मुण्डित नहीं कर लेते परन्तु पात्रापात्र का पूरा निर्णय कर ही दीक्षा देते थे। उन्हें पूरा विश्वास था कि "इह लोए निप्पिवासस्स नत्थि किंचित दुक्करं"—'निर्पिपासित—वैरागी के लिये इस संसार में कुछ भी दुष्कर नहीं' और इसी कारण से वे वैरागी को—संसार से सच्चे उदासी को ही—दीक्षा के योग्य समझते थे।

वैरागी को संसार में आनन्द नहीं मिल सकता। जिसे संसार में रति है—आनन्द है वह वैरागी नहीं और जो वैरागी नहीं, जिसकी मोह-वृत्ति शान्त नहीं हुई उसके लिये संयम सुकर नहीं

जहा भुयाहिं तरिउ, दुक्करं रयणायरो
तहा अणुवसन्तेणं, दुक्करं दमं सागरो

जैसे रत्नाकर को भुजाओं से तैरना दुष्कर है, उसी तरह विषयों से अनुपशान्त मनुष्य के लिये दम-रूप—संयम रूप महा सागर का तैरना दुष्कर है।

स्वामीजी ने इन्हीं शास्त्रोक्त विचार सरणी से उपरोक्त दीक्षार्थी को प्रव्रज्या देना अस्वीकार किया।

स्वामीजी जैसे दीक्षा देने के विषय में सतर्क रहते वैसे ही आचार में

ढिलाई देख कर वे किसी की खातिर नहीं करते थे। उनका स्पष्ट निर्देश था :

कोई दोषज रे, दोष लगावे गण मधे रे,
वली कर्म वशे बोले कूड़ रे।
काणज रे काण मत राख जो केहनी रे
प्रायश्चित न लिए तो करज्यो दूर रे।"

अर्थः—"यदि कोई दोष का सेवन करे, पूछने पर झूठ बोले और दोष का प्रायश्चित न ले तो उसे उसी समय गण से दूर कर देना। किसी की खातिर न करना। उसके अन्य गुणों की परवाह न करना।"

स्वामीजी शुद्धाचार को विद्वता से सदा उच्च स्थान दिया करते। आचार विना की विद्वता को वे विना धान के तुष की तरह निस्सार समझते थे और यही कारण था कि उन्होंने कई विद्वान पर गुणहीन शिष्यों को, उनकी विद्वता की जरा भी परवाह किए विना, गण-च्युत कर दिया था।

जिन भाषित निम्नोक्त पदों का सार स्वामीजी अमृत-रस की तरह पान कर चुके थे :

इहमेगे उ मन्नन्ति, अप्पच्चक्खाय पावगं
आयरियं विदित्ताणं, सव्वदुक्खा विमुच्चई।
भणंता अकरेन्ता य. वन्धमोक्खपईण्णिणो
वायाविरियमेत्तेण समासासेन्ति अप्पयं।
न चित्ता तायए भाषा, कुओ विज्जाणुसासणं
विसण्णा पावकम्मेहिं, वालापंडिय माणिणो।

अर्थ : "इस ससारमें कई ऐसा मानते हैं कि पाप द्वारों को रोके विना ही—पापों का त्याग किए विना ही, केवल आचार को जान लेने से ही जीव सब दुखों से मुक्त हो जाता है।

ज्ञान से ही मोक्ष बतलाने वाले पर किसी प्रकार की क्रिया का अनुष्ठान न

करने वाले ऐसे बंध-मोक्ष के व्यवस्थावादी लोग केवल वचनों की वीरता से ही अपने को आश्वासन देते हैं।

नाना-प्रकार की भाषाएँ—विविध भाषा ज्ञान-जीव को दुर्गति से नहीं बचा सकता। जो पाप कर्म में निमग्न हैं और अपने को पण्डित मानते हैं, ऐसे मूर्ख मनुष्यों को भला विद्याओं का सीखना कहाँ से रक्षक होगा ?"

स्वामीजी का अन्तःकरण बड़ा स्वच्छ और सरल था। दम्भ या ढोंग जैसी कोई वस्तु उन्हें रुचि कर नहीं होती थी। दम्भ या ढोंग के वातावरण में जैसे स्वामीजी को सांस लेना मुश्किल होता। वे 'कथनी' और 'करनी' की विसंगता को सहन नहीं कर सकते। जहाँ कहीं वे यह बात देखते उसका बड़ी दृढ़ता से भण्डाफोड़ और विरोध करते। इस प्रवृत्ति के अंकुर उनमें युवावस्था से ही थे। गृहस्थावस्था में उन्होंने दम्भी कुम्हार की करतूतों को प्रकट कर किस प्रकार उसकी ठगी से गाँववालों को बचाया था, यह पहले लिखा जा चुका है। जब गृहस्थावस्था में यह बात थी तो साधु अवस्था में ढोंग उन्हें कैसे पसन्द होता ? धर्मस्थान और धर्मियों में ठगी, यह उनकी कल्पना के बाहर की बात थी। यदि घरबार सब छोड़ कर साधु बनने वालों में दम्भ हो, तब तो उसका कहीं अन्त ही नहीं हो सकता। जनता के सामने तो धर्मी और अन्तर-जीवन में भ्रष्टाचारी—यह विसदृशता उन्हें बड़ी वेदना पहुँचाती। स्वामीजी कहा करते "परमतवादियों से स्वमत के भेष धारी बुरे—पत्थर की नौका से छिद्रवाली नौका बुरी। परमतों को हम पहचान सकते हैं, पत्थर की नौका को हम दूर ही से छोड़ सकते हैं, परन्तु भेषधारियों का पहचानना बड़ा मुश्किल होता है। वे तो छिद्रवाली नौका की तरह धोखा देने वाले होते हैं—भोले लोगोंको मझधार में ले डूबते हैं।" स्वामीजी ने अन्य मतियों का उतना खण्डन नहीं किया, जितना स्वांगधारी स्वमतियों का। वे इन स्वांगधारियों के सम्बन्ध में कहा करते : "जिस तरह गदहा सिंह की खाल पहिन कर स्वच्छन्दतापूर्वक खेत को चर जाता है, उसी तरह से ये, साधु का भेष

धारण कर, दिन-दहाड़े समकित और चारित्रको चर लेते हैं और जैन धर्म की मजबूत दीवार में दरारें डाल देते हैं।" दम्भ और ढोंग के विरुद्ध स्वामीजी ने जो बगावत की थी, उसका कारण यही था।

जब कोई केवल भेष की हिमायत करने आता तो स्वामीजी उसको बड़ा करारा जवाब देते। एक बार किसी ने कहा :"हमें आचार से क्या मतलब ? हम तो बाहरी भेष देखते हैं। जिस के पास ओघा और मुहपती होती है, हमारे लिए तो वह साधु है और वदनीय है। हम उसे सिर झुकाना उचित समझते हैं।" स्वामीजी ने उसको जो जवाब दिया, वह वेष-भूषा की पूजा के प्रति उनकी तीव्र विरोध भावनाओं का विराट् प्रदर्शन कराता है। स्वामीजी ने कहा :"ओघा ऊन का होता है और मुहपती कपास की। यदि ओघे को वदना करने से ही कल्याण होता हो, तब तो भेड़ के पैरों को वदना करनी चाहिये और कहना चाहिये—'हे माता ! तू धन्य है कि तुमने ओघे को पैदा किया'। यदि मुहपती-वन्दना से ही कल्याण होता हो तो वणी के वृक्ष को वन्दना करनी चाहिए। परन्तु चरित्रहीन भेषधारियों की वदना और पूजा से कोई संसार-समुद्र से निस्तार नहीं पा सकता। गुण- रहित भेष नमस्कार करने योग्य नहीं।"

जिन-मार्ग में देखलो, गुण लारे पूजा।
निगुणा ने पूजे तिके, ते मारग दूजा॥

स्वामीजी के समय में बहुत से ऐसे साधु थे जो कहा करते : "इस आरे—वर्त्तमान काल में साधुत्व का पूरा-पूरा पालन नहीं हो सकता"। स्वामीजी ने एक बार कहा : 'गाव में एक साहूकार था, जिसने समूचे गाँवको न्यौता दिया। जब गाववाले भोजन करने आये तो दरवाजे के पास खड़ा होकर कहने लगा :'मैं इतने आदमियों को भोजन नहीं करा सकता। मेरे पास इतनी सामग्री नहीं है, न मुझ में इतना सामर्थ्य ही है। मैं क्या करू ? अमुक मनुष्य ने भी तो न्यौता देकर ऐसा ही किया था।' यह बात सुन कर भोजन के लिये आये हुए लोग उसे शर्मिन्दा करने

लगे 'भले आदमी किसने आकर तुम से कहा था कि गांव को न्यौता दो ? न्यौता दिये बिना तुम्हारा कौन-सा ब्याह बिगड़ता था। तुम्हारे सिर में सात धोबा धूल है कि न्यौता देकर हम लोगोंको भूखा वापस लौटा रहे हो।' स्वामीजी ने आगे जाकर कहा—"न्यौता देकर वापिस करने वाले की जो फजीहत होती है—वही उस मनुष्य की होती है—जो वैराग्य पूर्वक साधु बनने के बाद कहता फिरता है 'मुझ से पूरे आचार का पालन नहीं होता। अभी अनुकूल समय नहीं है, ऐसे साधु को भ्रष्टाचारी न कहें तो और क्या कहें ?"

स्वामीजी ने एक जगह कहा है—"जो दुषम आरे—काल का नाम ले लेकर भ्रष्टाचार का प्रचार करते हैं और कहते हैं—'इस काल के लिये ऐसा ही आचार है। वर्तमान काल में दोषों से अधिक बचाव नहीं किया जा सकता'—उन्हें साधु नहीं माना जा सकता।"

स्वामीजी कहा करते— तांबे के पैसे की भी कीमत है और चांदी के रुपये की भी कीमत होती है। इन दोनों में किसी को पास रखने से सौदा मिल सकता है। परन्तु वेषधारी तो उस नकली रुपये को चलाने वाले की तरह है जिसे सौदा मिलना तो दूर रहा, जिसकी उल्टी फजीहत और होती है।" ढोंग को स्वामीजी खोटा सिक्का समझते थे। उनकी दृष्टि में आचार कुशल साधु ही सच्चा-साधु था और आचार-भ्रष्ट साधु-असाधु। जो केवल भेष में साधु होता आचार में नहीं स्वामीजी उसे थोथे चने, समुद्र के फेन या खाली बादल के साथी कहते। वे कहते—'यदि तुम्हें साधुभाव का पालन असम्भव मालूम दे तो तुम श्रावक हो कहलाओ और अपनी शक्ति अनुसार व्रतों का अच्छी तरह पालन करो। साधु बनकर दोषों का सेवन मत करो। साधु जीवन में ढिलाई लाने की चेष्टा मत करो।" एक बार वेषधारी साधुओं की हिमायत करते हुए किसी ने कहा "ये अन्य साधु लोग भी साधु का वेष रखते हैं वे भी गर्म जल धोवन आदि पीते हैं भिक्षा मांग कर रोटी खाते हैं,

वर्षों-वर्ष लोच कराते हैं, पैदल विहार करते हैं और शीत—ताप आदि के कष्टों को सहन करते हैं, फिर इनको साधु क्यों नहीं कहा जाय ?" स्वामीजी बोले : "जैसे डोमनी को ब्राह्मणी का वेष पहना कर, तिलक-छापा कर देने से ही वह ब्राह्मणी नहीं हो जाती, ब्राह्मण कुल के आचार-विचार रखने से ही कोई ब्राह्मणी होती है—वैसे ही कोई वेष मात्र और बाह्य क्रियाओं से साधु नहीं होता। जिनमें चारित्र और समकित का अभाव है, वे केवल वेष-भूषा से पूज्य कैसे होंगे ? जैसे भण्डारी धन की रक्षा करने से उसका मालिक नहीं होता है, वैसे ही केवल वेष की रक्षा से कोई साधुत्व का अधिकारी कैसे होगा ?"

इसी तरह से एक बार स्वामीजी ने कहा था : "एक सेठ था, जिसने लाख रुपये का दिवाला निकाला। बाद में वह पैसे का सौदा लाता तो पैसा चुका देता और रुपये का सौदा लाता तो रुपया चुका देता। इस तरह पैसे और रुपयों का साहुकार होने पर भी लाख का तो वह दिवालिया ही था। जैसे पैसे और रुपये की साहुकारी से लाख का दिवाला नहीं धुपता छूटता उसी तरह से जो पाँच महाव्रतों को ग्रहण कर निरन्तर दोषों का सेवन करते हैं, वे बहुत बड़ा दिवाला निकाल चुके हैं। लोच और वेष की साहुकारी से वह नहीं धुपता। दिवाला निकालने पर भी जैसे पैसे और रुपये की साहुकारी हो सकती है—उसी तरहसे शुद्ध मन से तपस्यादि करते हैं, उसका फल उन्हें अवश्य होता है, परन्तु इससे पुराना साधुपन का दिवाला नहीं धुपता।"

साधु वेषधारी दुराचारियों की करतूतों से जिन-शासन का झण्डा नीचा न गिरे और उसकी महिमा धूलि-धूसरित न हो, इसी उच्च भावना से वे ढोंग का खण्डन करते थे। स्वामीजी को यह बात बुरी लगती थी कि कोई धर्म के नाम पर मिथ्या आचार-विचार का प्रचार करे या समय का नाम लेकर चारित्रच्युत हो। वे साधुओं को उनकी मर्यादा और पद-प्रतिष्ठा का ख्याल करा कर ऊँचा उठाना चाहते थे। वे चाहते थे कि साधुओं में पुनः आत्म-गौरव जाग्रत हो और वे

समझें कि वे ऐसी-वैसी गद्दी के नहीं, परन्तु उदार जिन-शासन के भारवाह हैं। वे साधुओं में संयम की कठोर साधना—अखण्ड साधना देखना चाहते थे और इसलिये जब कभी वे साधुओं को संयम भ्रष्ट होते देखते—उनको मार्ग से विपरीत आचरण करते देखते—तो उनका हृदय मर्माहत हो जाता। उनको इस बात की बड़ी लज्जा मालूम देती कि भगवान् महावीर के अनुयायी इतने अधः पतित हों। वे शर्म से बड़ी गहरी आत्म-वेदना का अनुभव करते और फलस्वरूप हीनाचार के प्रति—विरुद्ध अपनी समस्त शक्ति को लेकर वे जूझने लगते। स्वामीजी को इस विरोध के कारण लोगों में काफी कटु होना पड़ा। वे अपने जमाने के एक खतरनाक मनुष्य माने जाने लगे। वे इतने भयानक माने जाने लगे कि एक बार उस समय के एक प्रतिष्ठित साधु ने कहा था "यदि भीखणजी का कटारी से गला काट दिया जाय तो सारा फिसाद ही मिट जाय।" परन्तु स्वामीजी ऐसी बातों से कंपित होने वाले न थे। अपने प्राणों को तो वे जिन-शासन के उद्धार कार्य के लिये पहले से ही झोंक चुके थे। "यह शरीर तो अंत-पंत जाने का ही है। जिन-शासन की महिमा फिर से बढ़ा कर सकूं तो ही मेरी महिमा है और भगवान् का साधु कहलाना सार्थक है।" स्वामीजी इसी भावना से ओत-प्रोत होकर कार्य करते जा रहे थे। उनके जीवन की यही साध थी। 'भेष' की जगह गुण को और 'भेष पूजा' की जगह 'गुण-पूजा' की पुनः स्थापना के लिये वे रात-दिन प्रयत्न करते रहे और यह प्रयत्न उनके अन्तिम श्वासोश्वास तक चालू था।

स्वामीजी का जीवन एक महान् साधना, उत्कृष्ट तपस्या और निरन्तर आत्माभिमुखता और जागरूकता का जीवन था। स्वामीजी स्वयं सच्चे आदर्श साधुत्व की उपासना करते थे और अपने शिष्यों से भी निर्दोष निष्कलंक अपापित पवित्र साधु जीवन का पालन करवाते थे। वे महान उद्योतकारी पुरुष थे। पूर्णिमा के निर्मल चन्द्रमा की ज्योत्सना की तरह उनकी चारित्र-कौमुदी अपनी सम्पूर्ण छटा और शुभ्रता के साथ चारों ओर विस्तृत रहती। वे दुनिया को और विशेषतः सारे जैन समाज को एक बहुत पवित्र जीवन का संदेश दे गए। वे एक युगान्तरकारी महान् आदर्शवादी संत थे और जैन आदर्शवाद की प्राण-प्रतिष्ठा के लिए ही जीवित रहे। उनका समग्र जीवन इसी एक साधना का महान् केन्द्रस्थल था।

: ४ :

एक महान् क्रांतिकारी युग-पुरुष

—वह जमाना—

स्वामीजी एक युग पुरुष थे—एक महान् क्रांतिकारी युग पुरुष जिन्होंने दुराचार के काले बादल छेद कर स्वच्छ जीवन का उज्वल प्रकाश दिया। जैन-धर्म के इतिहास में वे एक स्वर्णयुग के श्रष्टा हुए। उन्होंने एक नए जीवन का प्रभात शुरू किया—एक नई सदी उपस्थिति की।

जब हम विक्रम की १९ वीं सदी पर दृष्टि डालते हैं, तो जैन-धर्म की विकृत अवस्था का एक काला युग सामने उपस्थित हो जाता है। वह एक ऐसा जमाना था, जब धर्मका प्रायः तिरोभाव हो चुका था। स्वामीजी के शब्दों में जैसे अनाचार के घनघोर बादल एक साथ उमड़ पड़े हों। शुद्ध दृष्टि और शुद्ध जीवन दोनों का लोप हो चुका था। केवल वेष और ढोंग की वृद्धि हो गई थी। साधुओं में आत्म-साधना का अंश भी नहीं बचा था। फूटे हुए ठीकरे की तरह साधु और श्रावक, दोनों चारित्रहीन हो गए थे। साधु-आचार और कल्प का जरा भी विवेक नहीं था। मठधारियों की तरह साधु स्थानकों में रहने लगे थे। साधु-वेष पेट-पूर्ति का साधन रह गया था। मर्यादा और कल्प को भंग कर एक जगह अधिक रहना, वस्त्र-पात्र तथा अन्य उपकरणों की सीमा का उल्लंघन करना, अशुद्ध आहार पानी का ग्रहण करना—ये सब बातें सहज हो गई थीं। साधु का वेष इस तरह लज्जित कर दिया गया था। चारित्र जैसे भस्म हो रहा हो—धुंआ-धोर हो रहा हो। सूत्र और उनके भावार्थ को साधु भूल चुके थे। जिन-वचनों पर से आस्था—श्रद्धा उठ चुकी थी। केवल वेष ही साधुत्व का प्रतीक बन चुका था। अन्तर विवेक, सच्चा त्याग, सच्चा मुमुक्षु भाव—ये सब अन्तर्ध्यान हो चुके थे। जैसे गुरु थे, वैसे ही श्रावक थे। अलग-अलग गच्छ हो गए थे—और इन गच्छों के अलग

अलग आचार थे। जैन-धर्म के विशाल भवन में ऐसी ही बड़ी दरारें पड़ गयी थीं। यह एक ऐसा जमाना था जब जैसे कोई घट-घट में अन्धकार छा गया हो—जैसे कोई आँखों पर पट्टी बंध गई हो—जैसे गुण और चारित्र की कोर-कोर खण्डित हो गई हो। शुद्ध साधुओं से अन्तर द्वेष और हीनाचारियों से अन्तरंग-प्रेम, शुद्धाचार को प्रगट नहीं होने देना और हीनाचार को शुद्ध आचार कह कर अपनी प्रतिष्ठा बनाए रखने का कपटपूर्ण आन्दोलन करना—यह उस जमाने की विशेषता थी।

: पुनर्निर्माण की रूपरेखा :

स्वामीजी आए—इस तमिस्र-अन्धकारपूर्ण युग पर एक दृष्टि डाली और वैदिक ब्रह्मा की तरह उसके पुनः निर्माणकी एक रूपरेखा खींच ली। उन्होंने सोचा "मखमल, दैगंदी और खादी—ये तीनों एक से सूत की बनी हुई चीजें होती हैं परन्तु जैसा बुननेवाला होता है, वैसा ही पोत निकलता है। उसी तरह धर्म के विषय में भी है। जैसा गुरु होगा, वैसी ही उसके चेलों की सृष्टि होगी। अत गुरु को सृजन करने की—उसे कलापूर्ण सुघड़ बनाने की जरूरत है।" उन्होंने फिर सोचा—"तराजू की डंडी के तीन छिद्र होते हैं—एक बीचमें और एक-एक दोनों किनारों पर। तराजू के दोनों पल्ले बीच वाले छिद्र के बल पर ही समतुल रह सकते हैं। बीच वाले छिद्र में थोड़ा भी फर्क होने से—वह ठीक मध्य में न होने से—उसका असर दोनों पल्लों पर पड़े बिना नहीं रह सकता। यदि बीचवाला छिद्र ठीक मध्य में होता है तो दोनों पल्ले भी समान झुके रहते हैं,उन में किसी प्रकार की 'काण' —अन्तर नहीं आता। उसी तरह देव, गुरु और धर्म ये तीन परम पद हैं। यदि वह ठीक होगा—तो उनके बताए हुए देव और धर्म का स्वरूप भी यथातथ्य होगा और यदि गुरु में ही फर्क होगा तो देव और धर्म में भी अन्तर आ जायगा। सच्चे देव और सच्चे धर्म की प्राप्ति गुणवान निर्ग्रन्थ गुरु के बिना नहीं हो सकती।" इसलिये उन्होंने स्थिर कर लिया कि पहिले 'गुरु' को बनाना होगा—उसे अपने मध्य में—केन्द्र में स्थिर करना होगा और फिर सब तत्व अपने आप ही अपने केन्द्रों में

स्थित हो जायेंगे। यही उस प्रलय-सहार में से पुनर्निर्माण की उनकी रूपरेखा थी। परन्तु सच्चे गुरु-पद की स्थापना के पहले वश परम्परागत गुरु के प्रति विमोह-भाव दूर करने के लिये एक भूचाल—एक भूकंप पैदा करने की जरूरत थी और अपने समूचे पुरुषार्थ से वे इस कार्य में जुट गये। उन्होंने हुंकार की—

"जिन भगवान् ने विनय को धर्म का मूल कहा है—ऐसा सब कोई कहते हैं परन्तु उसके रहस्य को विरले ही समझते हैं।

भगवान् ने विनय पर जोर दिया है परन्तु हर किसी के विनय पर नहीं। भगवान् के वचनों का रहस्य है कि जो सत् गुरु का विनय करता है, वही मुक्ति की नींव डालता है। जो असत् गुरु का विनय करता है, वह संसार-भव से कैसे पार पा सकता है? जो सत्–असत् गुरु की पहचान नहीं करता, वह मनुष्य जन्म को यों ही खोता है।

कई अज्ञानी ऐसा कहते हैं कि बाप और गुरु एक समान होते हैं। अच्छा और बुरा क्या, जिसे एक बार मुख से 'गुरु' कह दिया, उसे नहीं छोड़ना चाहिये। परन्तु ऐसा सोचना ठीक नहीं है।

जिन-आगम में कहा है कि परीक्षा करके ही कोई गुरु करे। गुरु की अच्छी तरह—विशेष रूप से कीमत-परीक्षा करनी चाहिये। असत् गुरु की संगति नहीं करनी चाहिये।

भगवान् ने कहा है कि लकीर के फकीर मत बनो। मताग्रही मत बनो। बुरी वस्तु को मालूम पड़ते ही छोड़ दो। जो ऐसा कहते हैं कि गुरु गहला हो या बावला वह देवों का देव है, समझदार चेला सदा उसकी सेवा करे—उन्हें जिन मार्गी नहीं कहा जा सकता।

जिन भगवान् का बतलाया हुआ साधु-मार्ग सो टंच सोना है। उसमें खोट—खाद नहीं रहा सकती। चेला चूके—पथ भ्रष्ट हो तो गुरु उसे तत्क्षण छोड़ दे और गुरु चुके तो चेला उसका संग त्याग दे—यही जिन-मार्ग है।

भगवान् ने गुण होने से पूजा करने को कहा है। परन्तु ये तो निर्गुणों की पूजा करते जा रहे हैं। देखो! ये प्रत्यक्ष भूले हैं।

सोने की छुरी सुन्दर होने पर भी उसे कोई अपने पेट में नहीं भोंक सकता उसी तरह कोई भी समझदार व्यक्ति दुर्गति करने वाले वेषधारी गुरु की—फिर वह वंश परम्परागत ही क्यों न हो—विनय-सेवा भक्ति नहीं करता और उसे तुरन्त दूर छिटका देता है।"

गहले, गुरु-गुरु चिल्ला रहे हैं परन्तु सच्चा गुरु कौन होता है, इसकी उन्हें खबर ही नहीं। जो शीलाचारी गुरु का विनय करता है, वह चारों गति में गोता खाता है।"

स्वामीजी की इस हुंकार से मोह के बादल फटने लगे। ढोंग के प्रति एक बगावत पैदा हो गई। शुद्ध साधु और शुद्ध श्रावक-जीवन के प्रति दृष्टि शुरु गई। स्वामीजी ने श्रद्धा-भ्रष्ट जनता को ललकार कर कहा

"हे प्राणी! तुम्हें समकित कैसे आई! तू सच्चे देव का आचार नहीं जानता, न तुम्हें वास्तविक गुरु की कोई खबर है और न तू धर्म का रहस्य जानता है। अरे! तू तो केवल अभिमान में डूबा फिरता है।

हे प्राणी! तुम्हें समकित कैसे आई! तू नवतत्त्व का रहस्य नहीं जानता केवल झूठी लपराई—बकवाद करता है। अज्ञान होने पर भी तू अपने को धर्म का धोरी मान बैठा है—यह तुम्हारा कितना भोलापन है!

हे प्राणी! तुम्हें समकित कैसे आई! तू न जीव को पहचानता है और न अजीव को। तुझे पुण्य की खबर नहीं और न तू पाप की प्रकृतियों को समझता है। तू ने तो केवल व्यर्थ झगड़े किए हैं।

हे प्राणी! तुम्हें समकित कैसे आई। तुम्हारे आस्रव (कर्म आने के द्वार —नाले) खुले दिखाई देते हैं। तुम्हारे संवर—समता का स्पर्श नहीं हुआ। तू ने निर्जरा क्या है—इसका निर्णय नहीं किया। तुम्हारी चतुराई—कुशलता कहाँ चली गई?

हे प्राणी! तुम्हें समकित कैसे आई! तुझे बंध मोक्ष की कोई खबर ही नहीं, फिर भी तू समदृष्टि नाम धराता है। रे भोले! तुझे कुगुरुओं ने भरमा दिया!

हे प्राणी! तुम्हे समकित कैसे आई! तू कुगुरुओं से हाथ जोड़ कर समकित ग्रहण करता है परन्तु तुम्हारा अन्तर अज्ञान तो मिटा ही नहीं। तू मिथ्या ही प्रत्याख्यान करता है!

हे प्राणी! तुम्हें समकित कैसे आई! तू स्वांगधारियों को साधु मानता है और उनके पैरों पर गिर-गिर कर 'तिक्खुत्ते' के पाठपूर्वक उनकी वंदना करता और हर्षित होता है!

हे प्राणी! तुम्हें समकित कैसे आई! सावद्य करणी पाप की हेतु है, यह तू जानता ही नहीं और न तू यह समझता है कि निरवद्य करणी में धर्म और पुण्य है!

हे प्राणी! तुम्हें समकित कैसे आई! तू ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव नहीं जाना। जिस गुरु जैसी दूसरी वस्तु नहीं उसी का तुम्हें कोई पता नहीं। तू ने मनुष्य-भव पाया फिर भी चार निक्षेपों का निर्णय नहीं किया।

हे प्राणी? तुम्हें समकित कैसे आई। करण योग के भाँगों की तुझे धारणा नहीं और न तुम्हें मतों की जानकारी है। तू अव्रत में धर्म की श्रद्धा—मान्यता रखता है। तू ने नर्क की साई दे दी है।

हे प्राणी! तुम्हें समकित कैसे आई! तू थोथी बड़ाई—अभिमान करता है। न्याय बात तुम्हारे हाथ कैसे आ सकती है। तू खोटे (झूठे) चीज—हेतु दलील लगा कर जिन-आज्ञा के बाहर धर्म बतला रहा है।

हे प्राणी! तुम्हें समकित कैसे आई! देव तो जिनेश्वर देव हैं और सच्चा धर्म उनके द्वारा बताया हुआ धर्म। यदि तू वास्तवमें चतुर है तो सद् गुरु का मग कर, उपरोक्त सब बातों का निर्णय कर।

हे प्राणी! तुम्हें समकित कैसे आई। जीव-अजीव के छः द्रव्य किए हैं और

भगवान् ने गुण होने से पूजा करने को कहा है। परन्तु ये तो [illegible] पूजा करते आ रहे हैं। देखो! ये प्रत्यक्ष भूले हैं।

' सोने की छुरी सुन्दर होने पर भी उसे कोई अपने पेट में नहीं भोंक उसी तरह कोई भी समझदार व्यक्ति दुर्गति करने वाले वेषधारी गुरु को—[illegible] वंश परम्परागत ही क्यों न हो—विनय-सेवा भक्ति नहीं करता और उसे दूर छिटका देता है।"

गहले, गुरु-गुरु चिल्ला रहे हैं परन्तु सच्चा गुरु कौन होता है, इसकी [illegible] ही नहीं। जो हीनाचारी गुरु का विनय करता है, वह चारों गति [illegible] खाता है।"

स्वामीजी की इस हुंकार से मोह के बादल फटने लगे। [illegible] के प्र[illegible] बगावत पैदा हो गई। शुद्ध साधु और शुद्ध श्रावक-जीवन के प्रति दृष्टि शुद्ध स्वामीजी ने श्रद्धा-भ्रष्ट जनता को ललकार कर कहा

"हे प्राणी! तुम्हें समकित कैसे आई! तू सच्चे देव का आचार नहीं [illegible] न तुम्हें वास्तविक गुरु की कोई खबर है और न तू धर्म का रहस्य जानता अरे! तू तो केवल अभिमान में डूबा फिरता है।

हे प्राणी! तुम्हें समकित कैसे आई! तू नवतत्व का रहस्य नहीं [illegible] केवल झूठी अपराई—बकवाद करता है। अज्ञान होने पर भी तू अपने को [illegible] का धोरी मान बैठा है—यह तुम्हारा कितना भोलापन है!

हे प्राणी! तुम्हें समकित कैसे आई! तू न जीव को पहचानता है और अजीव को। तुझे पुण्य की खबर नहीं और न तू पाप की प्रकृतियों को समझता है तू ने तो केवल व्यर्थ झगड़े किए हैं।

हे प्राणी! तुम्हें समकित कैसे आई! तुम्हारे आस्रव (कर्म आने के [illegible] —नाले) खुले दिखाई देते हैं। तुम्हारे संवर—समता का स्पर्श नहीं हुआ। [illegible] निर्जरा क्या है—इसका निर्णय नहीं किया। तुम्हारी चतुराई—कुशलता [illegible] चली गई!

जो औद्देशिक वस्तुओं का सेवन करता है उसे अनाचारी, भ्रष्ट और नर्कगामी कहा है (दश वैकालिक सू० अ० ३ गा० २; अ० ६ गा० ७ उत्तराध्ययन सूत्र अ० २० गा० ४७) ।१

—क्रीतकृत दोष—

साधु के निमित्त खरीदे गये आहार, वस्त्र आदि अकल्प्य और सदोष हैं। साधु अपने निमित्त क्रीत वस्तुओं का सेवन न करे—ऐसी भगवान की आज्ञा है।

जो साधु अपने लिए खरीदी हुई वस्तुओं को ग्रहण करता है वह महा दोषी है। वह साधु भाव से पतित होता है। निशीथ सूत्र के १९ वें उद्देशक में उसे नग्न—व्रत विहीन—कहा गया है।२

जो साधु, पुस्तक पात्र, उपासरादिक, अच्छे बुरे बतला कर, मोल लिराता है, वह साधु गृहस्थ का काम करता है।

वह तो खरीदने और बेचने वालों के बीच दलाल का काम करता है।

क्रय विक्रय की प्रवृत्ति साधु के लिए महा दोष है—ऐसा उत्तराध्ययन सूत्र (अ० ३५) में उल्लेख है ।३

—नित्य पिण्ड दोष—

रोज-रोज एक ही घर से आहार आदि की भिक्षा करना, अकल्प्य कार्य है। साधु रोज-रोज एक ही घर की भिक्षा न करे—ऐसी भगवान की आज्ञा है।

जो साधु रोज-रोज एक ही घर की गोचरी करता है, वह प्रत्यक्ष रूप से हिंसा का अनुमोदन करता है (दस वैकालिक सूत्र अ० ६ गा० ४९) तथा सबल दोष का भागी होता है (दशाश्रुत स्कंध दशा० २, गा० ४)।४

जिस घर से पहले दिन अशन आदि चारों आहार लेते हैं उसी घर से दूसरे

१—सा० आ० ११,२ ३; २—सा० आ० १।२०,२५,२८;

३—सा० आ० ३।७,८,९; ४—सा० आ० १।३७

जम जाते हैं। अनेक जीव उत्पन्न होते और मरते हैं। यह उनकी पडिलेहना—प्रतिलेखन कीच रम सीमा है। उनके घट से चारित्र एक बार ही दूर चला गया।१

—परदा दोष—

ये स्थानक के सामने अपने हाथ से परदा बांधते और खोलते हैं। इस में दोष नहीं मानते। इस तरह साधुत्व कैसे पलेगा? वर्षा के कारण परदे के नीलण फूलण—काई आ जाती है। परदा इकट्ठा करने से इन जीवों के ताला सा लग जाता है। इससे साधु को जीव हिंसा का पाप होता है। परदा द्रव्य है—परिग्रह है—इसके सेवन से चरित्र की विराधना होती है। जो साधु के लिये परदा बांधते हैं और जो साधु ऐसे परदे का सेवन करते हैं, वे दोनों ही कर्मों से भारी होते हैं।२

—मर्यादातीत विहार—

कारण बिना ही ये एक जगह एक महीने से अधिक रहते हैं और इसी तरह चातुर्मास के बाद भी बिना कारण उसी जगह रह जाते हैं। ये कल्प को इस तरह भंग कर भगवान की मर्यादा को लोपते हैं। कल्प—मर्यादा—भंग करते हुए जिनके मन में जरा भी विचार नहीं आता उनको कोई अज्ञानी ही साधु समझ सकता है।३

—विपरीत चर्या—

जब गृहस्थी स्थानक सेवने आते हैं तो आर्याएं गारे में धोवन डालती हैं, कई आर्याएं हाथ से दह सोरती हैं, कई गारे के पिण्डों को हाथ में रख कर सहारा देती हैं—इस तरह खुले आम जिन-शासन से विपरीत आचरण करती हैं।४

—प्रतिमा पूजन—

जम आते हैं। अनेक जीव उत्पन्न होते और मरते हैं। यह उनकी पडिलेहना—प्रतिलेखन कीच रस सीमा है। उनके घट से चारित्र एक बार ही दूर चला गया।१

—परदा दोष—

ये स्थानक के सामने अपने हाथ से परदा बांधते और खोलते हैं। इस में दोष नहीं मानते। इस तरह साधुत्व कैसे पलेगा? वर्षा के कारण परदे के नीलण फूलण—काई आ जाती है। परदा इकट्ठा करने से इन जीवों के ताला सा लग जाता है। इससे साधु को जीव हिंसा का पाप होता है। परदा द्रव्य है—परिग्रह है—इसके सेवन से चरित्र की विराधना होती है। जो साधु के लिये परदा बांधते हैं और जो साधु ऐसे परदे का सेवन करते हैं, वे दोनों ही कर्मों से भारी होते हैं।२

—मर्यादातीत विहार—

कारण बिना ही ये एक जगह एक महीने से अधिक रहते हैं और इसी तरह चातुर्मास के बाद भी बिना कारण उसी जगह रह जाते हैं। ये कल्प को इस तरह भंग कर भगवान की मर्यादा को लोपते हैं। कल्प—मर्यादा—भंग करते हुए जिनके मन में जरा भी विचार नहीं आता उनको कोई अज्ञानी ही साधु समझ सकता है।३

—विपरीत चर्या—

जब गृहस्थिनी स्थानक लीपने आती है तो आर्याएं गारे में धोवन डालती हैं, कई आर्याएं हाथ से दड़ लीपती हैं, कई गारे के पिण्डों को हाथ में रख कर सहारा देती हैं—इस तरह खुले आम जिन-शासन से विपरीत आचरण करती हैं।४

—प्रतिमा पूजन—

ये दीपक जला धूप देते हैं। फूलों की कच्ची कलियां तोड़ प्रतिमा पर चढ़ाते हैं और उसे जल से स्नान कराते हैं। ऐसा कर हृदय में हर्षित होते हैं।

१—भ० आ० १८।२४,२५ २—भ० आ० १८।२६।२८,२९।

३—भ० आ० १८।३१,३६,४२, ४—भ० आ० १८।४७,४८।

जम जाते हैं। अनेक जीव उत्पन्न होते और मरते हैं। यह उनकी पडिलेहना —प्रतिलेखन कीच रस जैसा है। उनके घट से चारित्र एक बार ही दूर चला गया।१

—परदा दोष—

ये स्थानक के सामने अपने हाथ से परदा बांधते और खोलते हैं। इस में दोष नहीं मानते। इस तरह साधुत्व कैसे पलेगा? वर्षा के कारण परदे के नीलण फूलण—काई आ जाती है। परदा इकट्ठा करने से इन जीवों के सत्य सा लग आता है। इससे साधु को जीव हिंसा का पाप होता है। परदा द्रव्य है— परिग्रह है—इसके सेवन से चरित्र की विराधना होती है। जो साधु के लिये परदा बांधते हैं और जो साधु ऐसे परदे का सेवन करते हैं, वे दोनों ही कर्मों से भारी होते हैं।२

—मर्यादातीत विहार—

कारण बिना ही ये एक जगह एक महीने से अधिक रहते हैं और इसी तरह चातुर्मास के बाद भी बिना कारण उसी जगह रह जाते हैं। ये कल्प को इस तरह भंग कर भगवान की मर्यादा को लोपते हैं। कल्प—मर्यादा—भंग करते हुए जिनके मन में जरा भी विचार नहीं आता उनको कोई अज्ञानी ही साधु समझ सकता है। ३

—विपरीत चर्या—

जब गृहस्थिनी स्थानक लीपने आती है तो आर्याएं गारे में धोवन डालती हैं, कई आर्याएं हाथ से दड़ लीपती हैं, कई गारे के पिण्डों को हाथ में रख कर सहारा देती हैं—इस तरह ऐसे काम जिन-शासन से विपरीत आचरण करती हैं।४

—प्रतिमा पूजन—

ये दीपक जला धूप खेते हैं। फूलों की कच्ची कलियां तोड़ प्रतिमा पर चढ़ाते हैं और उसे जल से स्नान कराते हैं। ऐसा कर हृदय में हर्षित होते हैं।

१—भि० आ० १८।२४,२५ २—भि० आ० १८।२६।२८,२९।

३—भि० आ० १८।३१,३९,४२, ४—भि० आ० १८।४७,४८।

जम जाते हैं। अनेक जीव उत्पन्न होते और मरते हैं। यह उनकी पडिलेहना—प्रतिलेखन कोरा रस सोमा है। उनके घट से चारित्र एक बार ही दूर चला गया।१

—परदा दोष—

ये स्थानक के सामने अपने हाथ से परदा बांधते और खोलते हैं। इस में दोष नहीं मानते। इस तरह साधुत्व कैसे पलेगा? वर्षा के कारण परदे के नीलन फूलन—काई आ जाती है। परदा इकट्ठा करने से इन जीवों के ताला सा लग जाता है। इससे साधु को जीव हिंसा का पाप होता है। परदा द्रव्य है—परिग्रह है—इसके सेवन से चरित्र की विराधना होती है। जो साधु के लिये परदा बांधते हैं और जो साधु ऐसे परदे का सेवन करते हैं वे दोनों ही कर्मों से भारी होते हैं।२

—मर्यादातीत विहार—

कारण बिना ही ये एक जगह एक महीने से अधिक रहते हैं और इसी तरह चातुर्मास के बाद भी बिना कारण उसी जगह रह जाते हैं। ये कल्प को इस तरह भंग कर भगवान की मर्यादा को लोपते हैं। कल्प—मर्यादा—भंग करते हुए जिनके मन में जरा भी विचार नहीं आता उनको कोई अज्ञानी ही साधु समझ सकता है। ३

—विपरीत चर्या—

जब गृहस्थिनी स्थानक लीपने आती है तो आर्याएं गारे में धोवन डालती हैं, कई आर्याएं हाथ से स्वयं लीपती हैं, कई गारे के पिण्डों को हाथ में रख कर सहायता देती हैं—इस तरह खुले आम जिन-शासन से विपरीत आचरण करती हैं।४

—प्रतिमा पूजन—

ये दीपक जला धूप खेते हैं। फूलों की कच्ची कलियां तोड़ प्रतिमा पर चढ़ाते हैं और उसे जल से स्नान कराते हैं। ऐसा कर हृदय में हर्षित होते हैं।

१—भ० आ० १८।२४,२५ २—भ० आ० १८।२६।२८,२९;
३—भ० आ० १८।३१,३९,४२, ४—भ० आ० १८।४७,४८।

जिन पुरुषों के अद्भुत नाम-स्मरण से कोटि-कोटि कर्मों का नाश हो जाता है, उन पुरुषों का मैल उतारने वाला पुत्र किस मा ने उत्पन्न किया है ?

फूलों मे असख्यात जीव हैं—ऐसा भगवान ने कहा है। फूल चढ़ाने में धर्म है—ऐसा प्रचार कुगुरुओं के वचनों में हो हो सकता है।

इस बात को वही सच्चा मानते हैं जिनके अत्यन्त कर्म हैं और जो बहुल ससारी हैं। कुगुरु नर्क जाने के लिये बर बने हैं और इन श्रावकों को जानी के रूप में साथ ले लिया है।

जो यह प्ररूपणा—प्रचार करते हैं कि प्रतिमा पर पींछी फेरने में सौ उपवास का धर्म होता है—वे मनुष्य भव को यों ही खोते हैं—वे केवल पींछी फेरते ही रह जाते हैं

यदि प्रतिमा के सामने पग भरने से ही तेले का फल बताया जाता है तो फिर उपवास, बेला, तेला आदि कर कौन कष्ट पावेगा ?

भगवान के दर्शन के लिये जाने पर श्रावक सचित्त अलग कर देते थे परन्तु देखो ये तो भगवान कह कर प्रतिमा के मस्तक पर फूल चढ़ाते हैं।

'प्रतिमा पर फूल चढ़ाने से लाख उपवास का फल होता है' ऐसी झूठी प्ररूपणा करने वाले नर्क की साई देते हैं।

जो रात में भूलते हैं वे आशा कर सकते हैं कि सूर्योदय होने पर वे ठीक रास्ता पा लेंगे परन्तु दिनके दुपहरमें भूला हुए रास्ता पानेकी कैसे आशा कर सकते हैं ?1

—श्वान-वृत्ति—

ये सुबह जिस घर से आहार लाते हैं, दुपहर में फिर उसी घर जाकर घूघरी आदि वहरते हैं और शाम को गर्म रोटी दाल ले आते हैं—यह खोटी चाल है। विना कारण शाम को गर्म वहरना विलकुल विपरीत है।2

१—जैन भजन प्रकाश (प्रथम भाग): 'चतुर विचार की ढाल' पृ० ७४,

२—श्र० आ० १६।२४,२५,२९।

जिस दिन शामको त्योहार होता है उस दिन सुबह की गोचरी टाल देते हैं और शाम को घर घर भटकते हैं। प्रभात में आहार मिलने पर भी जो नहीं लेते और शामके त्योहार के आहार की गृद्धि रखते हैं—उनके दिन भर ताना-बेजा लगा रहता है। वे दिन भर आर्तध्यान में समय बिताते हैं और शाम को घृतपूरित मिष्टान्नादि बहर कर मानों त्योहार मनाते हैं। इस तरह जो रस गृद्ध हैं और ताजे आहार पर टूटे पड़ते हैं उन्हें समाधि कैसे प्राप्त होगी। वे व्यर्थ ही साधु नाम धराते हैं। जो ठूंस ठूंस कर सरस आहार खाते हैं वे विकल हैं। उनके साधुत्व में धूल है। जो रसगृद्धि और जिह्वा के लम्पटी हैं उनका वेष दूषित है। जो बिना कारण और केवल त्यौहार होने से शाम को गोचरी करते हैं उन्हें सौ धिक्कार है।१

—एक द्वार दोष—

भगवान ने यह मर्यादा बांधी है कि जिस गांव, नगर, पुर, पाटन और पाड़े से निकलने का एक ही रास्ता हो वहाँ साधु साध्वी दोनों न रहें।२

एक ही दरवाजे से आने जाने से लोगों का विश्वास उठ जाता है और व्रत भंग होने की भी नौबत आ जाती है। इसीलिए उपरोक्त मर्यादा बांधी गयी। परन्तु देखो! यह तो प्रत्यक्ष अन्याय हो रहा है—भगवान की आज्ञा के विपरीत, दो द्वार होने पर भी, वे एक ही द्वार से आना-जाना कर रहे हैं। बृहत् कल्प देख कर इस दोष का निर्णय करो।३

—कटक वसति—

गांव नगर के बाहर फौज के पड़ाव में एक रात भर भी रहना जिन-आज्ञा में नहीं है। एक रात पड़ाव में रहने वाले को चार मास का छेद बृहत् कल्प के

—विहार दोष—

संघ में और साध्वियों के होने पर भी तथा बिना किसी कारण के केवल दो ही साध्वियों का साथ रहना प्रत्यक्ष दोष है। केवल दो ही साध्वियों का साथ रहना व्यवहार सूत्र के पांचवें उद्देशक में वर्जित है।

बिना कारण अकेली साध्वी का गोचरी जाना अथवा शौचादि के लिए जाना प्रभु-आज्ञा के विपरीत है। तथा साध्वी को अकेले रहना वृहत् कल्प, उद्देश ५, में वर्जित हैं। इसी तरह की और भी बहुत सी बातें वहां हैं।

—चश्मा लगाना—

काच रखना शास्त्रों में मना है। परन्तु आज के साधु चश्मा रखने लगे हैं और उसमें थोड़ा ही दोष समझते हैं। जो ऐसा समझते हैं, उन्होंने पांचवें परिग्रह विरमण व्रत को भंग कर दिया है। वे जिन-भगवान की आज्ञा के चोर—उसे लोप करने वाले हैं। १

—निमन्त्रित ग्रहण—

गृहस्थ घर से आकर कपड़ों के लिये साधु को बुला कर ले जाय और इस तरह साधु जाकर वहर ले तो उसमें चारित्र किस तरह कहा जाय ?२

सामने लाया हुआ लेना अथवा बुलाने आने पर जाकर लेना—ये दोनों ही भारी दोष हैं। वीर भगवान के अनुयायी इन दोनों ही दोषों से बचते हैं। जो इन दोषों का सेवन करता है, वह शुद्धाचारी साधु नहीं।३

—सचित्त ग्रहण—

धोवन में वनस्पति और भींगे हुए धान के कण रहते हैं। ऐसे सचित्त धोवन को ग्रहण करने में जो संकोच नहीं करते, वे परभव से नहीं डरते। उन्हे साधु कैसे कहा जाय ?४

ऐसा अन्न, पानी भोगने वाले, सूत्रों के अनुसार चोर की श्रेणी में आते हैं।५

१—सा० आ० ६।१३; २—सा० आ० ६।१५; ३—सा० आ० ६।१६, ४—सा० आ० ६।१७; ५—सा० आ० ६।१

—बोल थोकड़ लिखना लिखवाना—

गृहस्थ के लिए सज्झाय बोल थोकड़े लिख कर देने से साधु को दोष लगता है तो फिर लिखवा कर देने और अनुमोदना करने से भी दूसरे और तीसरे भंग से दोष लगता है। जो ऐसा करते हैं उन्हें साधु कैसे समझा जाय।१

—दड़ लीपना—

जो साधु स्थानक में दड़—बिल लीपता है वह जिनेश्वर भगवान की आज्ञा को भंग करता है। दसवें अंग में, तीसरे व्रत की तीसरी भावना में इस कार्य की मनाही की गई है। ऐसा कार्य करने वाला वेष को निन्दित करता है। उसे साधु कैसे समझा जाय।२

—अठारह स्थानक और बावन अनाचार—

जिनेश्वर देव ने १८ स्थानक बतलाए हैं। जो एक की भी विराधना करता है उसे भगवान ने बाल कहा है। उसे साधु मत जानो।३

जिन आगम में ५२ अनाचार और ४२ दोष बतलाए गये हैं। इन दोषों के सेवन से और सेवन कराने से महाव्रतों का विनाश होता है।४

—जीमनवार गोचरी—

जीमनवार में गोचरी के लिए जाना साधुओं का आचार नहीं है। इसकी मनाही आचारांग, बृहत् कल्प, उत्तराध्ययन और निशीथ—इन सब सूत्रों में की गई है। जो पात्र ले बैठे २ बिना आलस्य जीमनवार में जा पात्र भर-भर सरस आहार लाते हैं उन्होंने साधु वेश की लज्जा खो दी है।५

—उपकरण दान—

जो गृहस्थ को खाट, पाट पट्टे, पत्र, रजोहरण और पूंजनी देते हैं, वे साधु के वेश को पहनते हुए भी भ्रष्ट हैं। पूछने पर कहते हैं कि हमने उन्हें परठ

१—सा० आ० ६।१५; २—सा० आ० ४।६०,६१; ३—सा० आ० ४।३; ४—सा० आ०२।८; ५—सा० आ०३।२०-२१

दिया परन्तु जरूरत पड़ने पर वापिस ले लेते हैं। अन्तर चाह नहीं मिटी और कहते हैं कि हमने परठ दिया—यह कितनी कपट है। आचारांग और उत्तराध्ययन सूत्र में एकान्त में जाकर परठने का विधान है, फिर गृहस्थ को देकर परठने का क्या अर्थ हुआ? गृहस्थ को अल्प उपधि देने से ही सर्व व्रत भग्न होते हैं। निशीथ में चौमासी दण्ड कहा है। गृहस्थ को देने वाला साधु जन धर्म की टेक को छोड़ता है।१

—ईर्या समिति—

ये कहने मात्र के साधु हैं। इनकी चाल विना अंकुश के हाथी और विना लगाम के घोड़े की तरह है। इनके हृदय में छह ही काय के जीवोंके प्रति अनुकम्पा नहीं है। ये गुण विना ही अपने को साधु कहते हैं। इसका परमार्थ विरले ही समझ सकते हैं। आचारांग और उत्तराध्ययन में स्पष्ट कहा है कि चलते २ बात करने से तथा ऊँची तिरछी दिशाओं में ताकने से छह ही काय के जीवों की घात होती है। दबक-दबक कर शीघ्र चलने से त्रस-स्थावर जीव मारे जाते हैं। ईर्यासमिति को पालन किए विना चलने से कोई कैसे साधु होगा।२

—वस्त्र गृद्धि—

लम्बे अर्ज का कपड़ा पहन कर इन्होंने वस्त्र मर्यादा का लोप कर दिया। ये दोहरा कपड़ा—अधिक वस्त्र रखते हैं पर पूछने पर झूठ बोलते हैं। जो मर्यादा से अधिक उपग्रण रखता है वह बड़ा अन्याय करता है। निशीथ के सोलहवें उद्देशक में इससे चौमासी चारित्र का छेद बतलाया गया है।३

—आहार गृद्धि—

विना मर्यादा सरस आहार लेने से देह की लोथ बढ़ जाती है। विगइ का

१—सा० आ० ३।३०,३१,३२,३४; २—सा० आ० ३।३५-३७,३९, ३—सा० आ० ३।४०,४२

अत्यधिक सेवन कर जो काया को हृष्ट पुष्ट कर मोटा बनाता है, वह विषय बुद्धि से स्त्रियों को बुरी नजर से देखने लगता है और साधुत्व से भ्रष्ट हो जाता है।[1]

—उपधि-पडिलेहन—

कई साधु पुस्तकों के थर के थर अपने पास रखते हैं। जब उनसे कोई प्रश्न करता है कि इतनी पुस्तकों की पडिलेहना किस तरह होती है, तब वे उत्तर देते हैं कि पुस्तक-पडिलेहन की बात किसी सूत्र में नहीं आई है। ऐसा उत्तर देना मिथ्या बोलना है। जो आचार का पालन नहीं कर सकते, वे अपना दोष छिपाने के लिये ऐसा कहते हैं।

वे यह भी कहते हैं कि जो चीजें हम उपयोग में लाते हैं, उनकी पडिलेहना करते हैं, जो चीजें उपयोग में नहीं आ रही हों, उनकी पडिलेहना नहीं करने में दोष नहीं—परन्तु ऐसा कहना भी आगम-संगत नहीं है।

साधु को रोज-रोज पडिलेहना करनी चाहिये—ऐसा भगवान ने दशवैकालिक, आवश्यक, उत्तराध्ययन आदि सूत्रों में स्थान-स्थान पर कहा है। जो अपनी एक उपधि भी पडिलेहना बिना रखता है, उसके लिये भगवान ने मासिक दण्ड बतलाया है।[2]

पुस्तकों के ढेर बिना पडिलेहन किये रखने से उनमें जीवों के जाल जम आते हैं, चौमासे में लीलन-फूलन आ जाती है। चींटी, कुंथवे आदि जीव उत्पन्न होवे और मरते हैं। इस प्रकार अनेक जीवों का नाश होता है।

इस तरह पुस्तकें बिना पडिलेही रखने से पूरा पाप लगता है। जो यह नहीं मानते, उनकी समझ उल्टी है। वे बिना समझे झूठा पक्षपात करते हैं।

जो पुस्तकों को बिना प्रतिलेखन रखते हैं, उनके सदा असमाधि रहती है। अनेक जीवों की घात करने से उन्हें साधु नहीं कहा जा सकता। मुनि अपने वस्त्र, पात्र, बिछौना, पाट-बाजोट तथा शास्त्र आदि पडिलेहन करने में कभी चूक न करे।[3]

१—सू० आ० ३।२९ ४१; २—निशीथ सूत्र द्वितीय उद्देशक

३—उ० अ० ११६ १२१

—उपयोग अनाचीर्ण—

गर्मी की ऋतु में गृहस्थ के बर्तनों में जल डालना—ठंडा करना और मन माने जब इन बर्तनों को वापिस सौंप देना—यह कार्य भगवान की आज्ञा सम्मत नहीं है। गृहस्थ के बर्तनों में अन्नादि का भोजन करने वाला साधु, निर्ग्रन्थ भाव से भ्रष्ट होता है—ऐसा दशवैकालिक सूत्र के छठे अध्ययन में कहा है। इसलिए उपरोक्त चाल चलने वाले को साधु मत समझो।१

—संग्रह वृत्ति—

औषधादि वहर कर वासी रखना, या रात के समय किसी गृहस्थ के यहां रख आना और सुबह होने पर उसके यहां से वापस ले आना—इस प्रकार रात वासी चीजें रखना और अपनी चीजों को गृहस्थों को सौंपना—ये दोनों ही बड़े दोष हैं। इस तरह उपयोग में भी खामी आती है—जो तीसरा दोष है। पूछने पर वे यह कहते हैं कि हमने कोई चीज वासी नहीं रखी—यह प्रत्यक्ष झूठ है। औषध आदि को वासी रखने से व्रतों का भंग होता है। दसवैकालिक के तीजे अध्ययन में इसे अनाचार कहा है। इसलिये उपरोक्त चाल चलने वाले को साधु मत समझो।२

गृहस्थों से पाट—बाजोट आदि लाकर जो उन्हें लौटाने की इच्छा नहीं रखते और मर्यादा लोप कर उन्हें सेवन करते हैं, उन्होंने जैन आचार को छोड़ दिया है। वे साधु कैसे माने जायंगे?३

—गृहस्थों को आशीर्वाद—

जब गृहस्थ आकर वंदना करे तो उसके मस्तक पर हाथ रखना—यह

१—सा० आ० ४।३०,३१; २—सा० आ० ४।३६-३९;

३—आ० चा० ६।३०

प्रत्यक्ष ही कुगुरु की चाल है। जो गृहस्थ के मस्तक पर हाथ रखता है, उसे गृहस्थ के बराबर समझो। जो गृहस्थ के मस्तक पर हाथ रखता है, वह गृहस्थ से संभोग करता है उसके योगों में रोग लग गया समझो उसे साधु कैसे समझा जा सकता है? ऐसा करना प्रत्यक्ष भगवान की आज्ञा के विपरीत है—यह दसवैकालिक, आचारांग और निशीथ सूत्र से मालूम किया जा सकता है। ऐसे आचार वाले को साधु मत समझो। १

—अयोग्य दीक्षा—

जो चोर, ठग और जल्लाद की तरह भोले लोगों को बहका कर, उन्हें किसी दूसरी जगह ले जा कर मूंडते हैं, जो आहार-वस्त्रादि का लोभ-लालच दिखा कर किसी को साधु का वेष पहनाते हैं—उन्हें साधु मत समझो। २

जो इस प्रकार चेले कर अपने मत को बढ़ाते हैं, वे गुणहीन वेष को प्रोत्साहन देते हैं। वे साधुत्व का ढोंग रच कर कर्मों से विशेष भारी होते हैं। ३

जो इस प्रकार मूंड-मूंड कर इकट्ठे किये गये हैं, उनसे साधु आचार किस प्रकार पलेगा? वे तो भूख, तृषा के परिषह से घबरा कर अशुद्ध आहार आदि लेने लगेंगे। ४

अज्ञानी व अयोग्य को दीक्षा देने से चारित्र का खण्डन होता है। इसके लिये निशीथ के ग्यारहवें उद्देशक में चौमासिक दण्ड बतलाया गया है। ५

जो विकल-विकल बालक-बूढ़ों को जिन्हें नव पदार्थ का जरा भी बोध नहीं, वेष पहनाता है, उसे साधु मत समझो। ६

शिष्य करना हो तो उसे ही करना चाहिये जो चतुर और बुद्धिमान हो तथा जिसे नव पदार्थ का ज्ञान हो नहीं तो अकेला ही रहना चाहिये—ऐसा उत्तरा-

१—सा० आ० ४।४९-५२; २—सा० आ० ४।५३ ५४

३—सा० आ० ४।५५; ४—सा० आ० ४।५६

५—सा० आ० ४।५७ ६—४।५८, उ० आ० ११।२१ २२

ध्ययन सूत्र के ३२ वें अध्ययन में कहा है। जो इनके विपरीत दीक्षा देता है, उसे साधु मत समझो।१

जो केवल पर निन्दा में डूबे रहते हैं, जिनके मन में जरा भी सन्तोष नहीं है, उनमें तेरह दोष हैं—ऐसा वीर भगवान ने दूसरे अंग में कहा है। जो यह कहते हैं कि यदि दीक्षा लो तो मेरे ही हाथ से लेना, दूसरों के हाथ से नहीं तथा जो इस प्रकार के सौगन्ध दिला देते हैं, वे प्रत्यक्ष उल्टी चाल चलते हैं, ऐसी चाल से किसी को साधु नहीं समझना चाहिये। ऐसा नियम कराने से ममता लगती है, गृहस्थ से परिचय बढ़ता है। इसका दण्ड भगवान ने निशीथ के चौथे उद्देशक में कहा है।२

ये जो गृहस्थों से रुपये दिलवा-दिलवा कर चेलों को मूंडते हैं, उन्हें साधु मत समझो। इस प्रकार चेले करने की रीत बिलकुल उल्टी है। अयोग्य को दीक्षा देना, भगवान की आज्ञा के बाहर है। ऐसा कार्य करने वाले बिलकुल विटल—भ्रष्ट हैं।३

—संदेश समाचार—

गृहस्थ के साथ संदेश कहलाने से उसके साथ सभोग होता है। जो इस प्रकार संदेश कहलाते हैं, उनको साधु किस प्रकार समझा जाय? उनके योगों को रोग लगा समझो।४

गाँव-नगर समाचार भेजने के लिये जो संकेत कर गृहस्थों को बुलाकर उन्हें खोल-खोल कर समाचार बता कागद-पत्र लिखवाते हैं—गृहस्थों का हाथ चलवाते हैं, उन्हें साधु मत समझो।५

गृहस्थ से सेवा लेने वाले साधु को भगवान ने अनाचारी कहा है। ऐसा

१—सा० आ० ४।५९; २—सा० आ० ३।१७-१९

३—सा० आ० ३।२२-२४; श्र० आ० ११।१

४—सा० आ० ३।२७; ५—श्र० आ० ११।२५; सा० आ० ३।३८

दसवैकालिक सूत्र के तीसरे अध्ययन में साफ लिखा है। बुद्धिमान इस पर विचार करें।१

—सम्मान—

किसी बड़े गृहस्थ को आया हुआ देख कर जो हाव भाव से हर्षित होते हैं और उनके लिये आसन आदि बिछाने की कामना करते हैं, उनको साधु मत समझो।२

जो साधु गृहस्थ को आने-जाने, बैठने-उठने के लिए कहता है और ऐसा करने के लिए जगह बतलाता है, उस साधु और गृहस्थ में कोई अन्तर नहीं। ऐसी चाल से किसी को साधु मत समझो।३

—पात्र शुद्धि—

जो मर जाते हैं या निकल जाते हैं उनके पात्रों के प्रति भी इनकी ममता नहीं छूटती। वे इन पात्रों को स्थानक में धर लेते हैं। जब लोट पात्रों के ढिग को देख कर कोई पूछता है कि इतने एक साथ कहाँ से आए तब कहते हैं कि ये गृहस्थ के हैं, इस तरह जो अलग होने की चेष्टा करते और झूठ बोलते हैं, उनमें साधुत्व की कोर भी नहीं होती। गृहस्थ को लोट पात्रे किस लिए चाहिए और फिर वह स्थानक में क्यों रखने लगा? जब जरूरत पड़ती है तो वे इनमें से ले लेते हैं और मरने-परने से बचे हुए पात्र इनमें रख देते हैं। ये लोट और पात्रों के कोठागार निश्चय ही उन्हीं के हैं। जो अपनी सामग्री को गृहस्थ की बतलाता है, उसे साधु कैसे कहा जाय? जो मर्यादा से अधिक उपधि रखते हैं, वे महा दोषी हैं। जो अधिक रख कर पडिलेहन नहीं करते, वे तो निश्चय ही दोहरे चोर—भगवान की आज्ञा के लोपक हैं।४

१—भि० आ० ११।१६ २—सा० आ० ६।१४ ३—सा० आ० ३।२६
४—भि० आ० १८।५१-५६

— उपधि संरक्षण —

गृहस्थ को अपनी उपधि—वस्तुएं सौंपना यह साधु का आचार नहीं है। ऐसा करने वाले साधु जिन-प्रवचन का पालन नहीं करते और मुक्ति-मार्ग से भिन्न मार्ग को पकड़े हुए हैं।१

जो गृहस्थ से अपनी वस्तुओं की देखभाल करवा कर उसे सेवक बनाता है उसे साधु कैसे माना जाय? ऐसा साधु अपने समस्त व्रतों को चकनाचूर करता है और प्रत्यक्ष साधु-भाव से दूर होता है।२ जो अपनी वस्तुओं की सार सम्हाल का भार गृहस्थ को दे जाते हैं वे भगवान के वचनों को कुचलते हैं।३

गृहस्थ सौंपी हुई वस्तुओं को जरूरत पड़ने पर एक जगह से दूसरी जगह हटाता है। इस तरह गृहस्थ से जो हिंसा होती है उसका भागी वह साधु भी होता है। गृहस्थ से बोझ उठवाने वाले साधु को निशीथ सूत्र के बारहवें उद्देश में चौमासी चारित्र का छेद कहा है।४

जो अपनी उपधि को एक दिन के लिये भी बिना प्रत्यवेक्षण रखता है उसे निशीथ सूत्र के दूसरे उद्देशक में मासिक दण्ड कहा है। गृहस्थ के घर धरी हुई उपधियां महीनों वर्षों पडिलेहन बिना रहती हैं। ऐसी हालत में गृहस्थ के घर उपधि रख कर जाने वाले साधु को साधु कैसे समझा जाय?५

—क्षेम कुशल प्रश्न—

जो साधु गृहस्थ से क्षेम-कुशल प्रश्न करता है वह अव्रत का सेवन करता है। ऐसे साधु को दसवैकालिक सूत्र में अनाचारी कहा है। गृहस्थ की क्षेम-कुशल की चिंता करने वाले साधु के पांचों महाव्रत भंग होते हैं। ऐसे अनाचार का सेवन करने वाला साधु कैसे माना जाय?६

१—सा० धा० ६।२१; २—सा० धा० ६।२२; ३—सा० धा० ४।२१;
४—सा० धा० ४।२२,२३; ५—सा० धा० ४।२४,२५; ६—सा० धा० ६।२३;

—आर्थिक सहायता—

माता पिता सगे-स्नेहियों को गरीब देखकर उन्हें धन-धान्य आदि परिग्रह दिलवाना यह असाधु की चाल है। ऐसा साधु प्रत्यक्ष कुगुरु है।

जो न्यातीलों को धन दिलवाता है उसके हृदय से उनका मोह नहीं हटा। जो साधु होकर गृहस्थों की सार-सम्भाल करता है, वह निश्चय ही साधु नहीं।

स्थानांग सूत्र के तृतीय स्थानक में परिग्रह को अनर्थ का मूल कहा है। जो साधु परिग्रह की दलाली करता है वह पूरा अज्ञानी और मूर्ख है। ऐसे आचारवाले को साधु मत समझो।[२]

जो साधु श्रावक को अनुकम्पा लाकर उसको धन दिलाता है, उसका दूसरे करण से पांचवां व्रत भंग होता है और 'तीसरे करण' से पांचों ही व्रत भंग होते हैं। ऐसे हीनाचार वाले को साधु कैसे समझा जाय ?[४]

—गृहस्थ भोजन—

जो साधु गृहस्थ को जिमाने का उपदेश करता है—जो उपदेश देकर जीमनवार करवाता है वह साधु दलाल की तरह है। ऐसे साधु के लिए निशीथ में चौमासी दण्ड की व्यवस्था है। जो व्रत भंग कर शील रहित हो जाता है उसे साधु कैसे माना जाय ?

—गृहस्थ के पाट बाजोट नहीं लौटाना—

जो साधु गृहस्थ के पाट बाजोट आदि ला उन्हें वापिस देनेकी नियत नहीं रखता और मर्यादा का भंग कर उनका सेवन करता है वह जैन-धर्म की रीति छोड़ चुका। ऐसे अनाचारी साधु के लिये निशीथ सूत्र में एक मास का दण्ड कहा है।

—कपाट खोलना और बन्द करना—

गृहस्थ के घर भिक्षाटन के लिए जाने पर यदि द्वार बन्द पाते हैं तो उनके

१—आ० आ० ४।२६। २—आ० आ० ४।२८।३—आ० आ० ४।२९। ४—आ० आ० ६।७ ५—आ० आ० ६।८

साधु भिक्षा किए बिना ही लौट जाते हैं पर कई साधु गृह स्वामी की अनुमति अथवा बिना अनुमति ही द्वार खोल घर में प्रवेश कर भिक्षा करते हैं। १

जो कपाट खोलता या बन्द करता है वह पर-पीड़ा को नहीं समझता। जो साधु द्वार खोलता-बन्द करता है वह अहिंसा महाव्रत को भग करता है। वह सच्चा अणगार नहीं। २

द्वार खोलकर भिक्षा करने वाला साधु जीवों का हिंसक है। आवश्यक सूत्र का चौथा अध्ययन देखकर इसका निर्णय करो। ३

आर्याओं के लिये द्वार बन्द करने की बात आई है, वह शीलादि की रक्षा क हेतु से है। जो साध्वियां अन्य किसी प्रयोजन से द्वार बन्द करती खोलती हैं वे संयम और लज्जा को छोड़ चुकीं। ४

जो मल-मूत्र विसर्जन करने के लिये जाते समय या भिक्षाटन के लिए जाते समय द्वार बन्द कर जाती हैं उनका आचार विशुद्ध नहीं। साध्वियां आहार के समय भी द्वार बन्द करती हैं। इसी तरह दिनमें अनेक बार द्वार खोलती बन्द करती हैं। ऐसी आर्याएँ केवल साध्वी वेष धारण करने वाली हैं। उनके हृदय में जरा भी विवेक नहीं। ऐसी आचारवाली साध्वियों को साध्वियां मत समझो। ५

जो ऐसा शिथिल प्रचार करते हैं कि साधु द्वार बन्द किया हुआ पाये तो द्वार खोल कर भिक्षा कर सकता है वे जिन-मार्ग से विचलित हैं। जो द्वार खोल कर भिक्षा करने में जरा भी पाप नहीं समझते और ऐसी मान्यता को पुष्ट करते हैं उन्हें साधु नहीं समझना चाहिये। ६

—अंजन डालना—

बिना कारण आंखों में अंजन डालना जिन-आज्ञा के बाहर है--धर्म के बहि-

---

१—सा० आ० ४।११, १२, २—सा० आ० ३।१६; ४।३५; ३—सा० आ० ४।१५; ४—सा० आ० ४।३४, ५—सा० आ० ४।३२, ३३; ६—सा० आ० ४।१३,१४

—आर्थिक सहायता—

माता पिता कुटुम्बियों को गरीब देखकर उन्हें धन-धान्य आदि परिग्रह दिलाना यह असाधु की चाल है। ऐसा साधु असंयम कुगुरु है।

जो न्यातीलों को धन दिलाता है उसके हृदय से उनका मोह नहीं छूटा। जो साधु होकर गृहस्थों की सार-सम्भाल करता है, वह निश्चय ही साधु नहीं।

स्थानांग सूत्र के तृतीय स्थानक में परिग्रह को अनर्थ का मूल कहा है। जो साधु परिग्रह की दलाली करता है वह पूरा अज्ञानी और मूर्ख है। इस आचरणवाले को साधु मत समझो।[३]

जो साधु श्रावक की अनुकम्पा लाकर उसको धन दिलाता है, उसका दूसरे करण से पांचवां व्रत भंग होता है और तीसरे करण से पांचों ही व्रत भंग होते हैं। ऐसे हीनाचार वाले को साधु कैसे समझा जाय।[४]

—गृहस्थ भोजन—

जो साधु गृहस्थ को खिलाने का उपदेश करता है—या उपदेश देकर जीमनवार कराता है वह साधु दलाल की तरह है। ऐसे साधु के लिए निशीथ में चौमासी दंड की व्यवस्था है। जो व्रत भांगकर शील रहित हो जाता है उसे साधु कैसे माना जाय।

—गृहस्थ के पाट बाजोट नहीं लौटाना—

जो साधु गृहस्थ के पाट बाजोट आदि ला उन्हें वापिस देनेकी नियत नहीं रखता और मर्यादा का भंग कर उनका सेवन करता है वह लोक-धर्म की रीति छोड़ चुका। ऐसे अनाचारी साधु के लिये निशीथ सूत्र में एक मास का दण्ड कहा है।

—कपाट खोलना और बन्द करना—

गृहस्थ के घर भिक्षाटन के लिए जाने पर यदि द्वार बन्द पाते हैं तो सच्चे

१—आ० आ० ४।२६; २—आ० आ० ४।२८ ३—आ० आ० ४।२९
४—आ० आ० ६।७ ५—आ० आ० ६।८

साधु भिक्षा किए बिना ही लौट जाते हैं पर कई साधु गृह स्वामी की अनुमति अथवा बिना अनुमति ही द्वार खोल घर में प्रवेश कर भिक्षा करते हैं। १

जो कपाट खोलता या बन्द करता है वह पर-पीड़ा को नहीं समझता। जो साधु द्वार खोलता-बन्द करता है वह अहिंसा महाव्रत को भंग करता है। वह सच्चा अणगार नहीं। २

द्वार खोलकर भिक्षा करने वाला साधु जीवों का हिंसक है। आवश्यक सूत्र का चौथा अध्ययन देखकर इसका निर्णय करो। ३

आर्याओं के लिये द्वार बन्द करने की बात आई है, वह शीलादि की रक्षा के हेतु से है। जो साध्वियां अन्य किसी प्रयोजन से द्वार बन्द करती खोलती हैं वे संयम और लज्जा को छोड़ चुकीं। ४

जो मल-मूत्र विसर्जन करने के लिये जाते समय या भिक्षाटन के लिए जाते समय द्वार बन्द कर जाती हैं उनका आचार विशुद्ध नहीं। साध्वियां आहार के समय भी द्वार बन्द करती हैं। इसी तरह दिनमें अनेक बार द्वार खोलती बन्द करती हैं। ऐसी आर्याएँ केवल साध्वी वेष धारण करने वाली हैं। उनके हृदय में जरा भी विवेक नहीं। ऐसी आचारवाली साध्वियों को साध्वियां मत समझो। ५

जो ऐसा शिथिल प्रचार करते हैं कि साधु द्वार बन्द किया हुआ पाये तो द्वार खोल कर भिक्षा कर सकता है वे जिन-मार्ग से विचलित हैं। जो द्वार खोल कर भिक्षा करने में जरा भी पाप नहीं समझते और ऐसी मान्यता को पुष्ट करते हैं उन्हें साधु नहीं समझना चाहिये। ६

—अंजन डालना—

बिना कारण आंखों में अंजन डालना जिन-आज्ञा के बाहर है—धर्म के बहि-

१—सा० आ० ४।११, १२; २—सा० आ० ३।१६; ४।३५; ३—सा० आ० ४।१५; ४—सा० आ० ४।३४; ५—सा० आ० ४।३२, ३३; ६—सा० आ० ४।१३,१४

और उपासक बनने की भावना को बल प्रदान किया। अन्धश्रद्धालु श्रावकों की तीव्र निष्पक्ष आलोचना उनकी कृतियों में जगह-जगह भरी पड़ी है। एक जगह वे कहते हैं "इधर साधु हैं जो साधु का विरद धराते हैं पर शुद्ध आचार का पालन नहीं करते और उधर श्रावक हैं जो दोष सेवन में सहारा देते हैं। दोनों के हृदय में इस प्रकार अन्धकार छाया हुआ है। यह तो अन्धे से अन्धे के मिलने की बात चरितार्थ हो गई। एक ओर कुगुरु हैं और दूसरी ओर विटल—पथभ्रष्ट श्रावक। दोनों ओर ज्ञान-चक्षुओं पर पट्टी बंधी हुई है। अब कौन मार्ग बतलावे ?"१ अपने जमाने के श्रावकों की टीका करते हुए स्वामीजी बड़े ही उद्बोधक शब्दों में कहते हैं—"देखो! वर्त्तमान काल के ये श्रावक झूठ-मूठ ही श्रावक कहलाते हैं। ये 'जीव' 'अजीव' नहीं जानते, न 'आश्रव' 'संवर' की इन्हें खबर है। देखो! ये धर्म समझ कर आश्रव का सेवन करते जा रहे हैं। देखो! ये प्रत्यक्ष भूले हैं।' २

वस्त्र, अन्न, जल, स्त्री आदि भोग परिभोग वस्तुओं का सेवन प्रत्यक्ष अव्रत आस्रव है। पर देखो! आज के ये श्रावक इनके सेवन करने, कराने और अनुमोदन करने में धर्म मान बैठे हैं। ३

देखो! इन्हें देव, गुरु, धर्म रूपी तीन रत्नों की पहचान नहीं। ये केवल थोथे बादल की तरह गाजा करते हैं। ये धर्म के धोरी हो बैठे हैं पर निरे मूर्ख हैं।४

ये श्रावक श्राविकाएँ मुक्तिमार्ग को बिल्कुल ही भूले हुए हैं। अपने गुरुओं के लिए स्थानक आदि बनवा कर जीव हिंसा करते हैं और तुर्रा यह है कि उसमें धर्म समझते हैं। ये जो हिंसा में धर्म समझ रहे हैं वे नर्क की नींव डाल रहे हैं। ५

पृथ्वी, जल आदि अनन्त स्थावर काय का घमासान होने पर भी धर्म समझने से आज जगह-जगह स्थानक खड़े हो गए हैं। ६

पूछने पर वे लज्जावश कहते हैं कि हमने साधुओं के लिए नहीं पर अपने सह-

---

१-श्र० आ० १६।१२, २- श्रा० नं० ३०; ३- श्रा० नं० ३१; ४-श्रा० नं० ३२; ५-श्रा० नं० २, ६-श्र० आ० ६-८;

देखो ! ये श्रावक घुग्घू सरीखे हो रहे हैं जिन्हें दिन दहाड़े होता हुआ अनाचार भी नहीं दिखाई देता । १

अहो ! इन अन्धों को न्याय मार्ग की बात जरा भी नहीं दीखती। ये तो पाखण्ड मे लीन हैं। इन के घट में घोर मिथ्यात्व है । २

अहो यह पाचवां आरा निश्चय ही दुषम काल है। आज के गृहस्थ केवल "श्रावक" और "श्राविका" नाम ही धारण करते हैं। ये गुण हीन फूटे ठीकरे की तरह हैं जिनके लिए नर्क ही ठीक स्थान है। ३ इन श्रावक श्राविकाओं का काम ही दिन-रात हीनाचारी गुरुओं की सेवा करना रह गया है। झूठी पक्षपात कर ये झूठों को सच्चा साबित करने की चेष्टा करते रहते हैं। ४

अपने गुरुओं के दोष तो ये इस प्रकार ढक देते हैं परन्तु शुद्ध साधु पर दोष मढते हुए ये पापी जरा भी सकोच नहीं करते । ये शुद्ध साधुओं की निन्दा करते रहते हैं—उन्हें देखते ही इनके हृदय में द्वेष जाग उठता है और उनके प्रति वैरी और सौतका-सा व्यवहार करते हुए विशेष छिद्रान्वेषण करते हैं। दूसरों के सिर झूठे आल देने में ये जरा भो आलसी नहीं। साधु से वैर ठानने के लिए ये सब एक हो जाते हैं और भोले लोगों को पीछे लगा देते हैं। ५

जिनके कुगुरु से अत्यन्त मोह है और साधुओं से अत्यन्त द्वेष उनके दोनों ओर दिवाला है। जो श्रावक, कुगुरुओं की पक्षपात करते और अपनी पकड़ी हुई बात को कभी नहीं छोड़ते उनके घट में मिथ्यात्व रूपी घोर अंधकार है।"६

भगवान ने श्रावकों को पिता तुल्य बतलाया है। जैसे पिता अपनी सन्तति की रक्षा करते हैं उसी तरह जो साधुओं के धर्म जीवन के पोषक और रक्षक हों वे ही श्रावक वास्तव में श्रावक हैं। जो साधुओं में घुसे हुए नाना दोषों और अना-

१—श्रा० आ० ढा० ९ दो० १—३, ८, २—श्रा० न० दो० ३ ३—श्रा० न० दो० १ ; ४—श्रा० न० दो० २ ; ५—श्रा० न० १७,१८ २५; ६ —श्रा० न० ५५,५

चारों के प्रति आँखें मूंद उनके शिथिलाचार का पोषण करते हैं वे श्रावक, श्रावक नहीं, जैन धर्म के लुटेरे हैं। स्वामीजी के समय के श्रावक पितृ-तुल्य' विरद को खो चुके थे। ऐसे हीनाचारी श्रावकों के प्रति स्वामीजी के हृदय में जो तीव्र तूफान था उसका अन्दाजा उपरोक्त उद्गारों से लगाया जा सकता है। श्रावक और साधु समाज के पतन से उनके हृदय में जो एक गहरी वेदना और आह छाई हुई थी, वह उनके प्रत्येक शब्द से फूट पड़ती है। एक बार स्वामीजी से किसी ने पूछा "आपने अपनी रचनाओं में किस समय के भाव दिखलाये हैं?" स्वामीजी बोले 'हम कोई ज्योतिषी नहीं कि आषाढ़ महीने में कातिक महीने का भाव कहें। हम तो वर्तमान भावों के ही वर्णन करने वाले हैं। हम आगे की नहीं बतलाते। वर्तमान में जैसा चारित्र है उसी की चर्चा करते हैं।" स्वामीजी ने अपने जमाने के शिथिलाचार के विरुद्ध घोर क्रांति मचाई थी। एक जगह शिथिला चार को दिखाते हुए स्वामीजी लिखते हैं:

"कई ऐसे श्रावक हैं जो काई को उखाड़ कर वर्षती वर्षा में मूर्ख मिट्टी डालते हैं। इस तरह अनन्त जीवों का घमासान करने में पापी जीव जरा भी शंका नहीं करते। इस तरह श्रावक खुद डूबते और गुरुओं को भ्रष्ट कर आत्मा को कलंकित करते हैं। जो साधुओं के निमित्त विषम जगह को खोद सम करते हैं और इस तरह नीलण-फूलण - काई, हरे अंकुर और चींटी-मकोड़ादिक को नष्ट करते हैं या मिट्टी के नीचे दबाते हैं उनकी बुद्धि बड़ी विपरीत—धर्म प्रतिकूल है।[1] बहुत से श्रावक साधुओं के निमित्त जगह बुहार जो अनेक खात कचरादि पड़ा होता है उसे इकट्ठा करा देते हैं और फिर टोकरियों में भरा बाहर डलवाते हैं। इसी तरह साधु के लिये श्रावक दह लिपवाते हैं, छपरा छवाते और चँदवा ताट्या बंधवाते हैं। इस तरह जो विविध रूप से जीवों की घात करते हैं वे श्रावक

१— श्र० आ० ढा० १६ । ४, ५ ६, ७

जैन धर्म को नहीं पहचानते ।१ ऐसे अशुभ कर्मों का बंध करते हैं। स्थानांग सूत्र के तृतीय स्थानक और भगवती सूत्र में इसका स्पष्ट उल्लेख है।" २

ऊपर में हमने जो अवतरण दिये हैं उनसे स्पष्ट है कि स्वामीजी साधु और श्रावक के परस्पर सम्बन्ध को पवित्र और नियमविहित देखना चाहते थे। एक दूसरे का जीवन उत्थान की ओर ले जाने वाला हो पतन की ओर नहीं, पूज्य गुणों से पूजास्पद बने, उपासक अपनी उपासना में पवित्र हो, गुणों की पूजा हो। केवल वेष की प्रतिष्ठा न रहने पावे— स्वामीजी की क्रांति का मूल लक्ष्य यही था।

स्वामीजी ने जैन संस्कृति और जीवनआदर्श को पुनर्जीवित करने के लिए जो महान् आंदोलन मचाया था उसकी संक्षिप्त रूप रेखा इस अध्ययन और इसके पूर्व के प्रकरणों में आ चुकी है। स्वामीजी एक महान् व्यवस्थापक थे। उन्होंने चतुर्विध जैन संघ को पुनर्संगठित कर उसे किस तरह एक सजीव संस्था के रूप में खड़ा किया था—इसकी चर्चा आगे यथास्थान आनेवाली है। स्वामीजी ने जनता को शुद्ध दृष्टि और सच्ची श्रद्धा दी। जैन धर्म के नाम पर जो अनेक मिथ्या मान्यताएँ चल पड़ी थीं और जिससे जैन-दर्शन एक महान् जटिल रूप धारण कर चुका था, स्वामीजी ने उन सारी मान्यताओं के प्रति भीषण क्रांति मचा शुद्ध जैन दर्शन का प्रकाश फैलाया। भगवान महावीर को ३६३ मतों के सम्मुख लड़ कर जैन धर्म का उद्धार करना पड़ता था। स्वामीजी के समयके वादों की कोई गिनती नहीं की गई। परन्तु उनकी संख्या अधिक ही होगी कम नहीं—ऐसा स्वामीजी के समय के साहित्य के पढ़ने से स्पष्ट है ये सभी वाद जैन धर्म के नाम से चलते थे। स्वामीजी ने विवेक दिया कि शुद्ध जैन दर्शन और धर्म क्या है। स्वामीजी की क्रांति के इस एक विशेष पहलू की चर्चा भी हम आगे एक स्वतन्त्र प्रकरण के लिए रख इस अध्ययन को यहीं समाप्त करते हैं।

१—श्र० आ० १६।९-१०; २—श्र० आ० ढा० १५। १

चारों के प्रति आंखें मूंद उनके शिथिलाचार का पोषण करते हैं वे श्रावक, श्रावक नहीं, जैन धर्म के लुटेरे हैं। स्वामीजी के समय के श्रावक 'पितृ-तुल्य' बिरद को खो चुके थे। ऐसे हीनाचारी श्रावकों के प्रति स्वामीजी के हृदय में जो तीव्र तूफान था उसका अन्दाजा उपरोक्त उद्‌गारों से लगाया जा सकता है। श्रावक और साधु समाज के पतन से उनके हृदय में जो एक गहरी वेदना और आह छाई हुई थी, वह उनके प्रत्येक शब्द से फूट पड़ती है। एक बार स्वामीजी से किसी ने पूछा "आपने अपनी रचनाओं में किस समय के भाव दिखलाये हैं?" स्वामीजी बोले "हम कोई ज्योतिषी नहीं कि आषाढ़ महीने में कार्तिक महीने का भाव कहें। हम तो वर्तमान भावों के ही वर्णन करने वाले हैं। हम आगे की नहीं बतलाते। वर्तमान में जैसा चारित्र है उसी की चर्चा करते हैं।" स्वामीजी ने अपने जमाने के शिथिलाचार के विरुद्ध घोर क्रांति मचाई थी। एक जगह शिथिला-चार को दिखाते हुए स्वामीजी लिखते हैं :

"कई ऐसे श्रावक हैं जो काई को उखाड़ कर वर्षा में सूखे मिट्टी डालते हैं। इस तरह अनन्त जीवों का घमासान करने में पापी जीव जरा भी शंका नहीं करते। इस तरह श्रावक खुद डूबते और गुरुओं को भ्रष्ट कर आत्मा को कलंकित करते हैं। जो साधुओं के निमित्त विषम जगह को खोद सम करते हैं और इस तरह नीलण-फूलण - काई, हरे अंकुर और चींटी-मकोड़ादिक को नष्ट करते हैं या मिट्टी के नीचे दबाते हैं उनकी बुद्धि बड़ी विपरीत—धर्म प्रतिकूल है।[1] बहुत से श्रावक साधुओं के निमित्त जगह बुहार जो अनेक खात कचरादि पड़ा होता है उसे इकट्ठा करा देते हैं और फिर टोकरियों में भरा बाहर डलवाते हैं। इसी तरह साधु के लिये श्रावक दह लिपवाते हैं, छप्परा छवाते और चँदवा ताट्या बंधवाते हैं। इस तरह जो विविध रूप से जीवों की घात करते हैं वे श्रावक

१— अ० आ० रा० १६। ४ ५, ६, ७

जैन धर्म को नहीं पहचानते ।१ ऐसे अशुभ कर्मों का बंध करते हैं । स्थानाग सूत्र के तृतीय स्थानक और भगवती सूत्र में इसका स्पष्ट उल्लेख है ।" २

ऊपर में हमने जो अवतरण दिये हैं उनसे स्पष्ट है कि स्वामीजी साधु और श्रावक के परस्पर सम्बन्ध को पवित्र और नियमविहित देखना चाहते थे। एक दूसरे का जीवन उत्थान की ओर ले जाने वाला हो पतन की ओर नहीं, पूज्य गुणों से पूजास्पद बने, उपासक अपनी उपासना में पवित्र हो, गुणों की पूजा हो। केवल वेष की प्रतिष्ठा न रहने पावे— स्वामीजी की क्रांति का मूल लक्ष्य यही था।

स्वामीजी ने जैन संस्कृति और जीवनआदर्श को पुनर्जीवित करने के लिए जो महान् आंदोलन मचाया था उसकी संक्षिप्त रूप रेखा इस अध्ययन और इसके पूर्व के प्रकरणों में आ चुकी है । स्वामीजी एक महान् व्यवस्थापक थे । उन्होंने चतुर्विध जैन संघ को पुनर्संगठित कर उसे किस तरह एक सजीव संस्था के रूप में खड़ा किया था—इसकी चर्चा आगे यथास्थान आनेवाली है। स्वामीजी ने जनता को शुद्ध दृष्टि और सच्ची श्रद्धा दी। जैन धर्म के नाम पर जो अनेक मिथ्या मान्यताएँ चल पड़ी थीं और जिससे जैन-दर्शन एक महान् जटिल रूप धारण कर चुका था, स्वामीजी ने उन सारी मान्यताओं के प्रति भीषण क्रांति मचा शुद्ध जैन दर्शन का प्रकाश फैलाया । भगवान महावीर को ३६३ मतों के सम्मुख लक्ष कर जैन धर्म का उद्धार करना पड़ता था। स्वामीजी के समयके वादों की कोई गिनती नहीं की गई। परन्तु उनकी संख्या अधिक ही होगी कम नहीं—ऐसा स्वामीजी के समय के साहित्य के पढ़ने से स्पष्ट है ये सभी वाद जैन धर्म के नाम से चलते थे। स्वामीजी ने विवेक दिया कि शुद्ध जैन दर्शन और धर्म क्या है। स्वामीजी की क्रांति के इस एक विशेष पहलू की चर्चा भी हम आगे एक स्वतन्त्र प्रकरण के लिए रख इस अध्ययन को यहीं समाप्त करते हैं।

१—श्र० आ० १६।९-१०; २—श्र० आ० ढा० १५।१

५

वैराग्यमूर्ति

एक संगम

स्वामीजी एक महान् वैरागी साधु थे। संसार से तीव्र उदासीन-भाव और परमार्थ में अत्यन्त लवलीनता—ये दोनों बातें समुद्र में लहरों की तरह उनकी अन्तर भावनाओं में क्रीड़ा करतीं। स्वामीजी एक विचक्षण तत्त्वज्ञानी और महान् आध्यात्मिक संत पुरुष थे। वैराग्य और धर्म उनकी धमनियों में उसी तरह बहा करता जिस तरह जीवन देनेवाला रक्त। उनके वैराग्य की कथाओं को सुनिये आपका हृदय संवेग रस से परिप्लावित हो जायगा, उनके गंभीर तत्त्वज्ञान पर दृष्टि डालिये आपका दृष्टि-उन्मेष हो जायगा और उनकी सरस आध्यात्मिकता पर विचार कीजिये आप आत्मसमाधि में लवलीन हो जायेंगे। एक अनूठे वैरागी, एक अनूठे ज्ञानी, एक अनूठे योगी—स्वामीजी एक अद्भुत पुरुष थे। वे ज्ञान, वैराग्य और अध्यात्म के एक पवित्र संगम थे।

वैराग्यभाव की कथाएँ

स्वामीजी ने २५ वर्ष की पूर्ण यौवनावस्था में दीक्षा ली। गृहवास में ही सह-पत्नीक ब्रह्मचर्य पालन करना शुरू किया। दीक्षा के पूर्व दीर्घ काल तक एकान्तर उपवास की तपस्या करते रहे। इन सबसे उनके मन की तीव्र वैराग्य भावना का सुन्दर दिग्दर्शन होता है। सांसारिक सुखों के प्रति उनके हृदय में सहज खिन्नभाव था। विषयभोग के प्रति उनकी अनासक्ति और निस्पृहता में एक गहरी सजीवता थी, जो अन्तिम क्षणों तक एक रस बनी रही। ‘भोगी भमई संसारे अभोगी विप्पमुच्चई”—भगवान के ये वचन उनके जीवन के दिशासूचक यंत्र बन गये थे। जीवन की अनित्यता उनके हृदय में एक अचूक चिराग की तरह जलती

और इसी कारण अपने जीवन के प्रति क्षण में जागृत रहते। "समयं गोयम मा पमायए"—"समय मात्र के लिये भी प्रमाद मत कर"—भगवान की यह शिक्षा उनके जीवन का अंकित हो गया था।

जीवन की अनित्यता को स्वामीजी ने अनेक स्थलों पर बड़े सुन्दर ढंग से समझाया है। एक जगह वे कहते हैं—'जीवन कुश के डाभ की तरह अस्थिर है'। अन्य जगह वे कहते हैं 'जीवन हाथी के कान की तरह चंचल—अस्थिर होता है'। जीवन की इस क्षण भंगुरता को समझ लेने के कारण ही वे अपने जीवन के पल-पल का लेखा लगा सके।

भगवान ने विषयों को तालपुट विष की उपमा दी है। उन्हें किंपाक फल कहा है, जो खाने में मीठे और फल में घातक विष की तरह होते हैं। स्वामीजी ने पौद्गलिक सुखों पर चिन्तन करते हुए लिखा है: "जैसे पाव रोगी को खाज उसके रोग के कारण ही सुखकारी लगती है उसी तरह पौद्गलिक सुख आत्म-विकार के कारण मीठे लगते हैं। जहर चढ़ने पर नीम मीठा लगने लगता है उसी तरह कर्म रोग से पीड़ित होने के कारण ही जीव को पौद्गलिक सुख मधुर लगते हैं। जैसे खुजलाने से पाव रोग नहीं मिटता उसी तरह काम भोगों के सेवन से आत्मा का कार्य सिद्ध नहीं होता। इन सुखों को पाकर जो खुश होता है, उसके पाप कर्म का संचय होता है जिससे आखिर में उसे नर्क निगोदादि के दुःख भोगने पड़ते हैं। आत्मिक सुख शाश्वत होते हैं। वे बाह्य वस्तु की अपेक्षा नहीं रखते। वे ही वास्तव में काम्य हैं। पौद्गलिक सुख तो रोगीले सुख हैं।" स्वामीजी सदा आत्मिक सुख की खोज में लवलीन रहते।

स्वामीजी ने एक जगह कहा है: "शरीर जीर्ण-शीर्ण हो जाता है तो भी आशा की पूर्ति नहीं होती। यह कितना आश्चर्य है। मैं उसकी बलिहारी जाता हूं जो तरुणावस्थामें सब भोगों को पीठ दिखा कर महाव्रतों को ग्रहण करता है। हे जीव! हृदय में विचार कर देख। हे गवार! विषय सुख में रतपत हो थोड़े सुख के लिये

इस मनुष्य जीवन को क्यों खोता है ?" स्वामीजी ने कितने सुन्दर ढंग से विषयों से विरत हो परमार्थमें तल्लीन होने के लिये सांसारिक आत्माको उद्बोधित किया है

स्वामीजी की वैराग्यमय चित्तवृत्ति की झांकी निम्नलिखित घटना से भी स्पष्ट रूप से होती है। हेमराजजी महाराज गृहस्थ थे उस समय की बात है। एकबार उनकी एकमात्र बहिन को उनके मामा अपने घर ले गये। हेमराजजी महाराज का अपनी बहिन से बड़ा स्नेह था। बहिन के पास न रहनेसे उनका मन अत्यन्त उदास हो गया। स्वामीजी के पास आकर बोले "स्वामीनाथ ! आज मेरा मन बहुत उदास हो रहा है। मन में आता है कि किसी ऊंट-सवार को भेजकर बहिन को आज ही वापिस बुला लू।" स्वामीजी बोले "सांसारिक सुखों में यही अनित्यता है। संसार में संयोग वियोग है। आत्मिक सुख ही शाश्वत हैं।"

सं० १८५५ का चतुर्मास स्वामीजी ने पाली में किया। एक दिन मुनि खेतसीजी को रात के समय बहुत उलटियां हुई और दस्तें लगीं। स्वामीजी ने हेमराजजी को जगाते हुए कहा, "उठो ! खेतसी रास्ते में पड़े हैं। उठाकर एक ओर सुलावें।" दोनों ने उठाकर खेतसीजी को एक तरफ सुलाया और उनके सिराहने से एक नई पछेवड़ी निकाल कर उन्हें ओढ़ा दी। फिर स्वामीजी हेमराजजी से बोलेः "संसार की माया कची है। देखो ! देखते-देखते खेतसीजी को क्या हो गया ?" थोड़ी देर बाद कुछ ठीक होने पर खेतसीजी बोले "रूपांजी को अच्छी तरह पढ़ाइएगा।" स्वामीजी बोले : "रूपांजी की चिन्ता न करो। भगवान का भजन करो।"

यह छोटी-सी घटना स्वामीजी की अन्तर वृत्तियों का बड़ा सुन्दर परिचय देती है। बीमारी के समय सारी चिंताएँ छोड़कर प्राणी को किस तरह आत्म-समाधि में तल्लीन हो जाना चाहिए—इसका सुन्दर बोध इस घटना में है। स्वामीजी ने बतलाया है कि अन्तिम क्षण में अपनी आत्मा को चिंता करना ही सबसे बड़ा परमार्थ है।

स्वामीजी के हृदय में वैराग्य की उत्ताल तरंगें इसी तरह लहराया करतीं। उनके जीवन की वैराग्य कथाएँ बड़ी अद्भुत हैं। उन्होंने एक बार कहा था : "कसुंबे को जल में डाल देने पर भी उस समय तक वह रंग नहीं चढ़ा सकता जब तक वह स्वयं गलता नहीं, उसी तरह साधु जब तक वैराग्य में पूरा रंगता नहीं तब तक दूसरों को वैराग्य में नहीं रंग सकता।" वैराग्य की साधना ही स्वामीजी की दृष्टि में सबसे बड़ी साधना थी।

अन्त समय में, जब कि स्वामीजी अनशन का निश्चय कर चुके थे, मुनि तसी स्वामीजी से बोले: "आपने धर्म का बड़ा उद्योत—प्रकाश किया। आप रूण्ड देवलोक में जाते दिखाई देते हैं।" स्वामीजी बोले : "सतयुगी! मुझे देवलोक की जरा भी चाह नहीं। स्वर्गादि के सुख पौद्गलिक हैं। अनन्त वार जीव इन पौद्गलिक सुखों को भोग चुका पर उससे कभी उस की तृप्ति नहीं हुई। मेरा मन तो मुक्ति में लीन है, जहाँ कि शाश्वत आत्मिक सुख हैं। मैं तो देवलोक की आकांक्षा नहीं करता। मुझे तो मुक्ति की ही चाह है।"

पाठक देखें कि "इहलोगासंसप्पओगे, परलोगाससप्पओगे, * * * कामभोगाससप्पओगे मा मुज्झ हुज्ज मरणन्तइ" किस तरह स्वामीजी की जीवन-सरिता का चिर किल्लोल बन गया था। अन्तिम समय में उन्होंने बालक मुनि रायचन्दजी को उपदेश दिया था : "तुम बालक हो। मोह मत लाना।"

मोह को—राग को जैन सिद्धान्त में पिशाच कहा है। स्वामीजी ने अत्यन्त प्रबल पुरुषार्थ से इस पिशाच को जीतकर उत्कट वीतरागभाव की प्राप्ति की। स्वामीजी एक विरले वैरागी योगी थे।

———

: ६ :

सस्कारी तत्वज्ञानी

स्वामीजी जैसे वैरागी थे, वैसे ही महान तत्वज्ञानी भी। वे जन्म-जात महान् दार्शनिक उपदेशक थे। तत्वों का सूक्ष्म ज्ञान और सरल विवेचन स्वामीजी की एक अनन्य विशेषता थी। उनका जैन शास्त्रों का तलस्पर्शी अध्ययन और चकाचौंध कर देने वाली बहुश्रुतता तो आज भी अपनी सानी नहीं रखती। उनकी रचनाओं में गहरा आगम-दोहन है, साथ ही एक उद्भट तत्वज्ञानी का गम्भीर विचार और चिन्तन। उनकी अलौकिक दार्शनिकता स्वाध्याय की उर्वरा भूमि में जन्मी और दूरदर्शिनी बुद्धि और विवेकपूर्ण तर्क से खाद्य और रस पा विस्तृत रूप से फूली-फली थी। जैन तत्वज्ञान और दर्शन के क्षेत्र में स्वामीजी की देन इतनी महान् है कि उसका कोई भी मूल्यांकन अधिक नहीं हो सकता। जैन जगत् के इतिहास में स्वामीजी का नाम अमिट अक्षरों में लिखा रहेगा।

स्वामीजी का तत्वज्ञान उनकी कृतियों में जगह-जगह छिपा पड़ा है। उनके गभीर तत्वज्ञान की दिव्य झाँकी उनके 'तेरह द्वार' के थोकड़े और 'नव तत्व' की ढालों परसे मिलती है। जैन तत्व का जैसा सूक्ष्म और स्पष्ट विवेचन स्वामीजी की कृतियों में है वैसा देखने में नहीं आता है। यहाँ हम स्वामीजी की कृतियों से कुछ विवेचन उपस्थित करेंगे, जिससे पाठकों को उनके महान् तत्वज्ञान का कुछ अन्दाजा हो सके।

नव पदार्थ का वैज्ञानिक विश्लेषण

जैन दर्शन में ९ पदार्थ बतलाये गये हैं —जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव संवर, बंध, निर्जरा और मोक्ष। स्वामीजी ने इन नौ तत्वों का खूब विशद विवेचन किया है। संक्षेप में वह इस प्रकार दिया जा सकता है.

१—जीव चेतन पदार्थ को कहते हैं। जिस-जिस द्रव्य में योग, उपयोग,लेश्या गुणस्थान, पर्याप्ति और प्राण हैं वह द्रव्य निश्चय ही जीव है। जीव को भगवती सूत्र के सातवें श्रुतस्कंध में शाश्वत और अशाश्वत दोनों कहा है। द्रव्यतः वह शाश्वत है और भावतः अशाश्वत। भावतः जीव को अशाश्वत इसलिये कहा है कि उसकी पर्यायें पलटती रहती हैं और द्रव्यतः उसे शाश्वत इसलिये कि जीव कभी अजीव नहीं होता। उदाहरणार्थ सोने के गहनों को तुड़ा-तुड़ा कर और-और आकार में घड़ाने से आकार का विनाश होता है पर सोने का विनाश नहीं होता, वैसे ही कर्मों के उदय से जीव की पर्याय—अवस्था पलटती—परिवर्तित होती है पर मूल चेतनगुण का विनाश नहीं होता।

२—अजीव अचेतन पदार्थ को कहते हैं। इसके पांच भेद हैं :

(१) धर्मास्तिकाय—यह द्रव्य एक द्रव्य है। क्षेत्र से लोक प्रमाण है। काल से आदि अन्तरहित है। भाव से अरूपी है। गुण से जीव और पुद्गल को चलने में सहारा देनेवाला है।

(२) अधर्मास्तिकाय—यह द्रव्य से एक द्रव्य है। क्षेत्र से लोक प्रमाण है। काल से आदि अन्त रहित है। भाव से अरूपी है। गुण से जीव पुद्गल को स्थिर होने में सहारा देनेवाला है।

(३) आकाशास्तिकाय—यह द्रव्य से एक द्रव्य है। क्षेत्र से लोक अलोक प्रमाण है। काल से आदि अन्त रहित है। भाव से अरूपी है। गुण से—वस्तुओं को स्थान देनेवाला—भाजन गुणवाला है।

(४)काल—यह द्रव्य से अनन्त द्रव्य है। क्षेत्र से अढ़ाई द्वीप प्रमाण है। काल से आदि अन्त रहित और भाव से अरूपी है। गुण से, वर्तनगुणवाला—विताने वाला है।

(५) पुद्गलास्तिकाय—द्रव्य से अनन्त द्रव्य है। क्षेत्र से लोक प्रमाण है। काल से आदि अन्त रहित है। भाव से रूपी और गुण से गलन-मिलन गुणवाला है।

३—पुण्य—अर्थात् शुभ कर्म। पुण्य पुद्गल की एक पर्याय—उसका

: ६ :

सस्कारी तत्वज्ञानी

स्वामीजी जैसे वैरागी थे, वैसे ही महान तत्वज्ञानी भी। वे जन्म-जात महान् दार्शनिक उपदेशक थे। तत्वों का सूक्ष्म ज्ञान और सरल विवेचन स्वामीजी की एक अनन्य विशेषता थी। उनका जैन शास्त्रों का तलस्पर्शी अध्ययन और चकाचौंध कर देने वाली बहुश्रुतता तो आज भी अपनी सानी नहीं रखती। उनकी रचनाओं में गहरा आगम-दोहन है, साथ ही एक अद्भुत तत्वज्ञानी का गम्भीर विचार और चिन्तन। उनकी अलौकिक दार्शनिकता स्वाध्याय की उवरा भूमि में जन्मी और दूरदर्शिनी बुद्धि और विवेकपूर्ण तर्क से खाद और रस पा विस्तृत रूप से फूलीफली थी। जैन तत्त्वज्ञान और दर्शन के क्षेत्र में स्वामीजी की देन इतनी महान् है कि उसका कोई भी मूल्यांकन अधिक नहीं हो सकता। जैन जगत् के इतिहास में स्वामीजी का नाम अमिट अक्षरों में लिखा रहेगा।

स्वामीजी का तत्वज्ञान उनकी कृतियों में जगह-जगह छिपा पड़ा है। उनके गभीर तत्वज्ञान की दिव्य झाँकी उनके 'तेरह द्वार' के थोकड़े और 'नव तत्व' की ढालों परसे मिलती है। जैन तत्व का जैसा सूक्ष्म और स्पष्ट विवेचन स्वामीजी की कृतियों में है वैसा देखने में नहीं आता है। यहाँ हम स्वामीजी की कृतियों से कुछ विवेचन उपस्थित करेंगे, जिससे पाठकों को उनके महान् तत्वज्ञान का कुछ अन्दाजा हो सके।

नव पदार्थ का वैज्ञानिक विश्लेषण

जैन दर्शन में ९ पदार्थ बतलाये गये हैं :—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव संवर, बंध, निर्जरा और मोक्ष। स्वामीजी ने इन नौ तत्वों का खूब विशद् विवेचन किया है। संक्षेप में वह इस प्रकार दिया जा सकता है.

रूपान्तर है। जो पुद्गल—कर्म—जीव के आ आ कर लगते हैं और उदयावस्था में—फलावस्था में शुभ—सुखरूप होते हैं उन्हें पुण्य कहते हैं। पुण्य कर्म से जीव को सुख होता है।

४—पाप—अर्थात् अशुभ कर्म। पाप भी पुद्गल द्रव्य है। जो पुद्गल कर्म जीवके आ-आ कर लगते हैं और उदयावस्था में—फलावस्था में दुःख उत्पन्न करते हैं उन्हें पाप कहते हैं। पाप जीव को दुःख का कारण होता है।

पाप पुण्य को समझने के लिए पथ्य-अपथ्य आहार का दृष्टान्त है। कभी जीव के पथ्य आहार घटता और अपथ्य बढ़ता है तो जीव की आरोग्यता घटती और सरोगता बढ़ती है। कभी जीव के अपथ्य आहार घटता है और पथ्य बढ़ता है तब जीव के अस्वस्थता घटती और आरोग्यता बढ़ती है। पथ्य अपथ्य दोनों आहार घट जाने पर प्राणी मृत्यु प्राप्त करता है। इसी तरह जीवके पुण्य घटते और पाप बढ़ते हैं तो सुख घटता और दुःख बढ़ता है। कभी जीव के पाप घटता और पुण्य बढ़ता है तो सुख बढ़ता और दुःख घटता है। पुण्य पाप दोनों के क्षय होने से जीव मोक्ष पाता है।

५—आस्रव' कर्म ग्रहण करे सो आस्रव तत्व है। उसे पहचानने के लिए तीन दृष्टान्त मय पाँच कथन कहे जाते हैं।

(१) प्रथम कथन

(२) मकान के दरवाजे को बंद करने की तरह जो जीव के आस्रव रूपी नाले को बंद करे वह संवर।

(३) नाव के छिद्र को रूंधने की तरह जो जीव के आस्रव रूपी छिद्र को रूंधे वह संवर।

७—निर्जरा देश से (अंश रूप में) कर्मों को तोड़ कर जीव का देशतः (अंशतः) उज्ज्वल होना निर्जरा है। इसे समझने के लिए तीन दृष्टान्त हैं :

(१) तालाब के पानी को मोरी आदि द्वारा निकाला जाता है उसी तरह भले भाव की प्रवृति द्वारा कर्मरूपी जल निकाले वह निर्जरा।

(२) मकान का कचरा बुहार-बुहार कर बाहर निकाला जाता है, उसी तरह भले भावों की प्रवृति द्वारा जीव कर्म रूपी कचरा बाहर निकाले वह निर्जरा।

(३) नाव का जल उलीच-उलीच कर बाहर निकाला जाता है, उसी तरह भले भाव की प्रवृति द्वारा जीव कर्म रूपी जल बाहर निकाले वह निर्जरा।

८—बंध : जीव प्रदेश के साथ कर्मों का जो बन्धन होता है, उसे बन्ध कहते हैं। इसे समझने के लिए तीन दृष्टान्त हैं :—

(१) तेल और तिल लोलीभूत—एकमेक होते हैं, उसी तरह बन्ध से जीव कर्म लोलीभूत—एकमेक होते हैं

(२) घृत दूध लोलीभूत—एकमेक होते हैं, उसी तरह बन्ध से जीव कर्म लोलीभूत—एकमेक होते हैं।

(३) धातु मिट्टी लोलीभूत—एकमेक होते हैं, उसी तरह बन्ध से जीव कर्म लोलीभूत—एकमेक होते हैं।

बन्ध के चार भेद होते हैं

(१) प्रकृति बन्ध—बन्धे हुए कर्मों की प्रकृति—स्वभाव की दृष्टि से।
(२) स्थिति बन्ध—बन्धे हुए कर्मों की काल-स्थिति की दृष्टि से।

एक-एक तालाब की तरह है, जो कर्म रूपी जल से सम्पूर्ण भरा हुआ है। जैसे तालाब को खाली करने के लिए पहले जल आने के नाले बंध कर दिये जाते हैं, उसी तरह कर्मों का अन्त लाने के लिए पहले आस्रवों को रोकना होता है। यही संवर है। नाले को बंद करने के बाद तालाब की मोरियों को खोल कर जल बाहर निकाल दिया जाता तब तालाब कुछ-कुछ खाली होता जाता है उसी तरह आस्रव को संवर द्वारा रोक, नए बंध को मिटा, रहे हुए कर्मों का अंत करनेके लिए तपस्यादि करना पड़ता है। इस तरह जीव कुछ-कुछ उज्ज्वल होता जाता है। यही निर्जरा है। निर्जरा तालाब के अंश रूप में खाली होने की तरह है। जब निकालते २ सारा जल निकाल दिया जाता है तो तालाब सम्पूर्णत खाली हो जाता है, उसी तरह तपादि क्रिया करते-करते जब जीव अपने प्रदेशों में रहे सम्पूर्ण कर्मों को क्षय कर सम्पूर्ण उज्ज्वल हो जाता है तो मुक्त कहलाता है। खाली तालाब की तरह जीव के सर्व प्रदेशों का सर्व कर्म रहित होना—यही मोक्ष है।"

नवतत्व का उपरोक्त विवेचन स्वामीजी की विस्तृत रहस्यपूर्ण कृतियों के आधार से खूब संक्षेप में किया गया है। जिन्हें जैन नव तत्व का कुछ भी परिचय है और जो इस सम्बन्ध में थोड़ा भी अध्ययन रखते हैं, उन्हें इस संक्षिप्त विवेचन में भी चमत्कार और काफी मौलिकता दृष्टिगोचर होगी। जो स्वामीजी की 'नव पदार्थ' जैसी कृतियों का सम्पूर्ण अध्ययन करेंगे उन्हें नव तत्वों पर काफी नया प्रकाश मिल सकेगा। द्रव्य जीव और भाव जीव, जीव के पाँच भाव, काल द्रव्य कैसे है, प्रदेश और परमाणु का अंतर काल के स्कंध क्यों, पुण्य और पाप की परिभाषा, "पुण्य का बंध कैसे होता है, आस्रव और कर्म में भेद, आस्रव जीव है या अजीव, संवर क्या है, अयोग संवर कैसे होता है, अकाम निर्जरा और सकाम निर्जरा, बंधके चार प्रकार", सांसारिक सुखों की तुलना, मोक्ष के सार्वभौम उपाय, सिद्धों की विभूतियाँ आदि अनेक विषयों का तलस्पर्शी विवेचन हृदय में ज्ञान की रश्मियाँ फैला देता है। आठों कर्मों का भिन्न भिन्न दृष्टियों से विवेचन तो इस कृति में आदि से अन्त तक ओत-प्रोत है।

तीन काल में शाश्वत बतलाया है। ये तीनों ही अलग-अलग द्रव्य हैं और उनके गुण पर्याय भी अलग अलग हैं। तीनों ही काल में इन के गुण पलटते नहीं पर शाश्वत रहते हैं। ये तीनों ही द्रव्य केवल फैले हुए हैं, जरा भी हलन-चलन नहीं करते। केवल जीव और पुद्गल हलन-चलन करते हैं और लोक में फिरते रहते हैं। जीव और पुद्गल चलते हैं उन्हें सहाय धर्मास्तिकाय होती है। अनन्त जीव पुद्गलों को सहायक होने से उस की अनन्त पर्याय कही गई है। जीव और पुद्गल स्थिर होते हैं, उन्हें अधर्मास्तिकाय सहाय्य होती है। उसकी भी अनन्त पर्याय उपरोक्त हेतु से होती है। जीव अजीव आदि सर्व द्रव्यों का भाजन आकाशास्तिकाय है। अनन्त जीव अजीव द्रव्यों का भाजन होने से इस की अनन्ती पर्याय होती है। धर्मास्तिकाय का गुण चलने में सहारा देना, अधर्मास्तिकाय का गुण स्थिर रहने में सहारा देना आकाशास्तिकाय का गुण सर्व द्रव्यों को स्थान देना है। धर्मास्तिकाय के तीन भेद हैं। स्कंध, देश और प्रदेश। समूची धर्मास्तिकाय स्कंध है। स्कंध समूचे से लवलेश भी न्यून नहीं होता। दो प्रदेश से आरम्भ कर एक प्रदेश कम तक स्कंध नहीं होता। वहाँ तक देश और प्रदेश होता है। धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश स्कंध और देश नहीं होता। जघन्य (कम से कम) दो प्रदेश बिना देश कभी नहीं होता। धर्मास्तिकाय तावड़े और छाया की तरह एक धार पड़ी रहती है। उसके कोई जोड़ सांध नहीं होती। पुद्गलास्तिकाय से जो प्रदेश अलग हो जाता है, उसे जिन भगवान ने परमाणु कहा है। उसी सूक्ष्म परमाणु से धर्मास्तिकाय मापी जाती है। एक परमाणु जितनी धर्मास्तिकाय को स्पर्श करता है उसे प्रदेश कहा है। इस माप से धर्मास्तिकाय के असंख्यात प्रदेश होते हैं। अधर्मास्तिकाय के असंख्यात और आकाशास्तिकाय के अनन्त प्रदेश भी इसी माप से होते हैं।

"काल जीव के अनन्त द्रव्य होते हैं। वे निरन्तर उत्पन्न होते रहे, हो रहे हैं और होंगे। अतीत काल में काल के अनन्त समय हो चुके। वर्तमान में एक समय है। आगामी काल में अनन्त समय होंगे। काल द्रव्य की यही पहचान है।

है, उसे कोई सहारा देकर नहीं तिराता—वह अपने हल्केपन के स्वभाव से ही तैरता है उसी तरह करनी (धर्मकृत्य से) हलुकर्मी—हल्का बन कर जीव स्वर्ग को जाता है और कर्म भार से सम्पूर्ण रहित होने पर मोक्ष को।"

इसी तरह प्रश्न करने पर कि जीव का निस्तार—संसार-समुद्र से पार पहुँचना किस प्रकार हो स्वामीजी ने एक सुन्दर दृष्टान्त देते हुए कहा: "पैसे को पानी में डालने से वह डूब जाता है। उसी पैसे को तपा और पीट कर उसकी कटोरी बना ली जाए और पानी पर छोड़ दी जाय तो वह तैरने लगेगी। इस कटोरी में पैसे को रखने से वह भी कटोरी के साथ तैरता रहेगा। इसी तरह संयम—इन्द्रिय दमन और क्रोधादि के उपशम से तथा तप से आत्मा को कृश कर हल्का बनाओ। कर्म भार के दूर होने से आत्मा स्वयं भी संसार-समुद्र से पार पहुँचेगी और अपने साथ दूसरों का निस्तार करने में भी सफल होगी।"

स्वामीजी की बुद्धि कितनी उपजाऊ थी, उनका ज्ञान कितना निर्मल और स्वच्छ था—इसका आभास उपरुक्त प्रसंग से मिलेगा। एक दुर्गम आध्यात्मिक विषय को उन्होंने कितने सरल ढंग से समझा दिया।

गुरु की परख

सभी धर्मों में गुरु को महान् स्थान दिया गया है। "गुरु गोविन्द दोनों खड़े काको लागूं पाँव। बलिहारी गुरु देव की जो गोविन्द दियो बताय।" —यह एक अत्यन्त प्रसिद्ध पद है जो गुरु की महत्ता और पूजात्म्यता को साफ-साफ प्रगट करता है। जैन धर्म में गुरु पद का एक निराला ही आदर्श है। सद्‌गुरु की चरण-सेवा का महान लाभ जैन आगमों में जगह-जगह वर्णित है। स्वामीजी ने गुरु पद के महत्व को अनूठे ढंग से सिद्ध किया है। वे कहते हैं: "देव, गुरु और धर्म ये तीन परमपद हैं। सच्चे देव में देव बुद्धि, सच्चे गुरु में गुरु बुद्धि, और सच्चे धर्म में धर्म बुद्धि—यही सम्यक्त्व अर्थात् सम्यक् दर्शन है। सम्यक् दर्शन—वस्तु तत्त्व में यथा दृष्टि का होना मोक्ष का एक मार्ग है। तीन पदों में गुरु का

है, उसे कोई सहारा देकर नहीं तिराता—वह अपने हलकेपन के स्वभाव से ही तैरता है उसी तरह करनी (धर्मकृत से) हलुकर्मी—हलका बन कर जीव स्वर्ग को जाता है और कर्म भार से सम्पूर्ण रहित होने पर मोक्ष को।"

इसी तरह प्रश्न करने पर कि जीव का निस्तार—संसार-समुद्र से पार पहुँचना किस प्रकार हो, स्वामीजी ने एक सुन्दर दृष्टान्त देते हुए कहा: "पैसे को पानी में डालने से वह डूब जाता है। उसी पैसे को तपा और पीट कर उसकी कटोरी बना ली जाए और पानी पर छोड़ दी जाय तो वह तैरने लगेगी। इस कटोरी में पैसे को रखने से वह भी कटोरी के साथ तैरता रहेगा। इसी तरह संयम—इन्द्रिय दमन और क्रोधादि के उपसम से तथा तप से आत्मा को कृश कर हलका बनाओ। कर्म भार के दूर होने से आत्मा स्वयं भी संसार-समुद्र से पार पहुँचेगी और अपने साथ दूसरों का निस्तार करने में भी सफल होगी।"

स्वामीजी की बुद्धि कितनी उपजाऊ थी, उनका ज्ञान कितना निर्मल और स्वच्छ था—इसका आभास उपरूक्त प्रसंग से मिलेगा। एक दुर्गम आध्यात्मिक विषय को उन्होंने कितने सरल ढंग से समझा दिया।

गुरु की परख

सभी धर्मों में गुरु को महान् स्थान दिया गया है। "गुरु गोविन्द दोनों खड़े काको लागूं पांव। बलिहारी गुरु देव की जो गोविन्द दिया बताय।" —यह एक अत्यन्त प्रसिद्ध पद है जो गुरु की महत्ता और पूजास्पदता को साफ-साफ प्रगट करता है। जैन धर्म में गुरु पद का एक निराला ही आदर्श है। सद्गुरु की चरण-सेवा का महान लाभ जैन आगमों में जगह-जगह वर्णित है। स्वामीजी ने गुरु पद के महत्त्व को अनूठे ढंग से सिद्ध किया है। वे कहते हैं: "देव, गुरु और धर्म ये तीन परमपद हैं। सच्चे देव में देव बुद्धि, सच्चे गुरु में गुरु बुद्धि, और सच्चे धर्म में धर्म बुद्धि—यही सम्यक्त्व अर्थात् सम्यक् दर्शन है। सम्यक् दर्शन—वस्तु तत्त्व में यथा दृष्टि का होना मोक्ष का एक मार्ग है। तीन पदों में गुरु का

पद सब से ऊँचा है क्योंकि सच्चे देव और धर्म की प्राप्ति सच्चे गुरु को पाए विना अत्यन्त दुर्लभ है। तराजू की डण्डी के तीन छिद्र होते हैं—एक मध्य में और एक-एक दोनों किनारों पर। तकडी के दोनों पल्ले बीचवाले छिद्र पर ही समतुल रह सकते हैं। बीच वाले छिद्र की स्थिति में थोड़ा भी फर्क होने से—वह ठीक मध्य में न होने से उसका असर दोनों पल्लों पर पड़ता है और काण—अंतर पड़ जाती है। यदि बीचवाला छिद्र ठीक स्थान पर —मध्य में होता है तो दोनों पल्ले भी समतुल—समान झुके रहते हैं। देव, गुरु,और धर्म में गुरु-पद केन्द्र का पद होने से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। गुरु निर्ग्रंथ—निष्किंचन और गुणवान होने से ही सच्चा देव और सच्चा धर्म हाथ लगता है। यदि गुरु ही श्रद्धा-भ्रष्ट और हीनाचारी हो तो वह असली देव और धर्म के स्वरूप में फर्क डाल देता है—स्वरूप बतलाने में अंधेर कर देता है। निर्ग्रंथ साधु ही सच्चा गुरु होता है और ऐसा गुरु अरिहन्त भगवान को देव और जिन-आज्ञानुसार चलने में ही धर्म बतलाता है।

"हलुए से भरे थाल में भोजन करने से ही भोजन करनेवालों की पंक्ति को तृप्ति हो सकती है। खाली ठीकरे को देखकर भूख नहीं बुझ सकती। इसी तरह गुणवान निर्ग्रंथ गुरु के चरणों की सेवा से ही आत्मा का कार्य सिद्ध हो सकता है। ठीकरे समान हीनाचारी पुरुषों को गुरु बनाकर उनके प्रति भक्तिभाव करने से नहीं। सत्ताईस गुणों से सम्पन्न उत्तम आचारी साधु ही सच्चा गुरु होता है। ऐसे गुरु के सेवन से निर्मल अहिंसा धर्म और निर्दोष देव की प्राप्ति होकर जीव मोक्ष को प्राप्त करता है।"

ग्रामीण लोगों को 'हलुए के थाल' और 'तराजू' के दृष्टान्त से गुरु की महिमा बतलाने की सूझ कितनी मौलिक और चमत्कार पूर्ण है—यह पाठक स्वयं अनुभव करेंगे। तत्वों का वैज्ञानिक ढंग से निरूपण कर उनके यथातथ्य स्वरूप को जीवित रूप में खड़ा कर देना—यह एक महान् दार्शनिक की कुशल तूलिका का ही काम हो सकता है। एक साधारण दार्शनिक और तत्ववेत्ता में ऐसी पैनी दृष्टि संभव नहीं।

विधवा कैसे ?

स्वामीजी एक असाधारण तत्त्वज्ञानी थे और साधारण से साधारण कथा वार्ता रूप के प्रसंग में भी गूढ़ तत्त्व सिखा देते। वे ज्ञान के एक महान् भण्डार थे। उनकी प्रत्येक बात शिक्षा से भरी होती। ऐसे ज्ञानी संत कभी कदा ही प्रादुर्भूत होते हैं। एक बार की बात है पोपाड़ में एक बहिन बोली "अमुक ने भीखणजी की श्रद्धा ली—उन्हें गुरु बनाया जिससे वह रांड—विधवा हो गई। वह जानती न थी कि वह भीखणजी से ही बातचीत कर रही है। वह स्वयं विधवा थी। स्वामीजी बोले "तू तो भीखणजी की निंदा भी काफी करती मालूम देती है, तेरी अवस्था भी छोटी है, फिर तू बालविधवा कैसे हुई ?" यह तो अपने-अपने किस्मत का खेल है। संचित कर्म उदय में आये बिना नहीं रहते। 'कर्मों के फल भोगे बिना छुटकारा नहीं'—इस सत्य को कितने अद्भुत ढंग से स्वामीजी ने हृदयंगम करा दिया—यह उपरोक्त प्रसंग से साफ प्रकट है।

सुख दुःख का कारण

एक बार स्वामीजी से किसी ने प्रश्न किया: महाराज साधुओं के भी असाता—रोग होने का क्या कारण है ?" स्वामीजी बोले जो आकाश में पत्थर फेंककर उसको सीध में नीचे सिर करता है उसका सिर अवश्य फूटता है। इसी तरह बांधे हुए संचित कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है। जब आकाश में पत्थर नहीं फेंके जब तो सिर फूटने की सम्भावना भी नहीं रहती। इसी तरह साधु बनकर नये कर्मों को रोक देने से भविष्य में दुःख भी नहीं होगा।

> जीव साता-पीड़ा कर्म करै जब पुद्गल लागे ताम।
> ते उदय आया दुःख उपजै ते आप कमाया काम॥
> पाप उदय थी दुःख हुवै जब कोई मत करोज्यो रोष।
> किया जिसा फल भोगवै, पुद्गल नो नहीं दोष॥

लाभ-अलाभ का

विक्रम संवत् १८५९ के वर्ष देवगढ़ (मेवाड़) में १४ साधु और १४ साध्वियाँ कुल अठाईस ठाने थे। उस समय अन्य सम्प्रदाय के तीन साधु आए और स्वामीजी से बोले: "हमको तो यहाँ तीन साधुओं को भी पूरा आहार नहीं मिलता। आप लोगो को कैसे मिलता है?" स्वामीजी बोले—"जिस द्वारिका नगरी में हजारों साधुओं को अन्न मिलता था वहां ढंढण ऋषि कोरे ही रहते थे। यह अन्तराय कर्म का उदय है।" स्वामीजी ने जरा भी अभिमान न करते हुए बड़े दार्शनिक ढंग से भिक्षा न मिलने के वास्तविक कारण को बतला दिया। उनकी बुद्धि वस्तु के तह तक पहुंचती।

स्वामीजी की बुद्धि में एक हंस का सा नीर-क्षीर विवेक था। वे तत्त्व को अतत्त्व से उसी तरह पृथक् कर दिखा देते, जिस तरह हंस क्षीर को नीर से अलग कर लेता है। उनकी बुद्धि एक ऐसा सूक्ष्म कांटा (तराजू) था जो बारीक से बारीक अन्तर को भी स्पष्ट बतला सकता। उनकी अन्तरभेदी बुद्धि तत्त्वों को उसी तरह मथ निकालती जिस तरह मथनी दूध में से मक्खनको निकाल लेती है। उनकी बुद्धि की इस विशेषता के अनेक प्रसंग मिलते हैं। हम कुछ यहाँ देते हैं।

पुराने काल में देवालय क्यों?

एकबार स्वामीजी आउआ पधारे। वहाँके उत्तमोजी इराणी स्वामीजी से बोले "आप देवरों—देवालयों—मन्दिरों का निषेध करते हैं परन्तु पहले—पुराने जमाने मे बड़े-बड़े लखपति-करोड़पति हो चुके हैं जिन्होंने देवालय कराये।" स्वामीजी बोले: "यदि तुम्हारे पास ५ हजार का धन हो जाय तो देवालय कराओगे या नहीं?" उसने उत्तर दिया: "अवश्य कराऊँ।" स्वामीजी ने पूछा: "तुममें जीवका कौन-सा भेद पाया जाता है? तुममें गुणस्थान, योग, उपयोग और लेस्या कौन-कौन से और कितने पाते हैं?" उत्तमोजी बोला:—"यह

तो मुझे मालूम नहीं।" स्वामीजी बोले "आगे भी ऐसी ही समझ थी। रुपये होने से ज्ञान नहीं आ जाता।" "ज्ञान ज्ञानावर्णीय कर्मके क्षयोपशम से होता है और अर्थ लाभान्तराय कर्म के दूर होने से"—स्वामीजी ने यह भेद बतला कर गतानुगतिक रूप से आती हुई मूढ़ता को अपने आप समझने का मौका दिया।

कूर्मापुत्र के केवली होने का खुलासा

सं १८५४ के चातुर्मास में स्वामीजी खेरवे विराजे। स्वामीजी के साथ ४ साधु और थे। पर्यूषण पर्व के दिनों में कई श्रावक गच्छवासियों के उपाश्रय में व्याख्यान सुनने गए। वापिस आकर स्वामीजी से बोले- "स्वामीजी! अभी हमलोग उपाश्रय में व्याख्यान सुनकर आये हैं कि कूर्मापुत्र ने केवल ज्ञान उत्पन्न होने के बाद ६ महीने तक राज्य किया। एक दिन वह राजसभा में बैठा था उस समय वहाँ दो साधु आये। आकर खड़े हो गये पर वन्दना न की। इस पर कूर्मापुत्र केवली ने उन साधुओं से पूछा: 'तुमलोगों ने मुझे वन्दना क्यों न की? मैं केवलज्ञानी हूँ'। तब उन साधुओं ने कहा — 'आपका भेष गृहस्थ का है इसलिये हमलोगों ने नमस्कार नहीं किया।' यह सुनकर कूर्मापुत्र बोला—ठीक-ठीक अब मैं समझा'।" यह कह कर श्रावकों ने स्वामीजी से पूछा "क्या यह कथा सत्य है? केवलज्ञानी होनेके बाद ६ महीने तक इस प्रकार राज्य करने की बात कैसी-कैसी लगती है।" स्वामीजी बोले 'यह बात बिलकुल असंगत है। राज मोहनीय कर्म के उदय से किया जाता है जब कि केवलज्ञान की प्राप्ति मोहनीय कर्म के सम्पूर्ण क्षय के बाद होती है। जो इस कथा को सत्य कहते हैं, न उनमें सम्यक्त्व है और न जो सुनकर सत्य मानते हैं उनमें ही।"

स्वामीजी की तत्वभेदिनी बुद्धि ने सत्यासत्य का निर्णय क्षण मात्र में ही कर दिया। कर्मों की प्रकृतियों का सूक्ष्म ज्ञान स्वामीजी की रचनाओं में

बड़े सुन्दर ढंग से प्रगट होता है। उनका दिव्य तत्वज्ञान क्षणमात्र में ही दृष्टि-उन्मेष कर देता।

साधु श्रावकके धर्म एक या दो ?

कई लोगों का सिद्धान्त था कि साधुधर्म और गृहस्थधर्म अलग-अलग हैं। स्वामीजी ने उनके एकत्व—पृथक्त्व का विवेचन इस प्रकार किया है: "चौथे, पाँचवें, छठे, और तेरहवें गुणस्थान की श्रद्धा समान है परन्तु चारित्र का स्पर्श जुदा-जुदा है। जैसे सचित्त पानी में असंख्य जीव और नीलण-फूलण—काई में—अनन्त जीव होने का विश्वास चारों गुणस्थान वालों का समान है और उनमें पाप मानने की बुद्धि समान है इसलिये सबका धर्म भी समान है। चारित्र की स्पर्शना जुदी जुदी होने से चौथे और पाँचवें गुणस्थानवाले जीवों की हिंसा करते हैं और बाद के गुणस्थानवाले नहीं करते, परन्तु इससे उनके धर्म में जुदाई नहीं आती। यदि चौथे और पांचवें गुणस्थानवाले हिंसा में धर्म समझने लगें तभी उनका धर्म अलग समझना चाहिये क्योंकि ऐसा होते ही वे मिथ्यात्वी की श्रेणी में आ जाते है। मिथ्यात्वी और समदृष्टि के धर्म में फर्क हो सकता है, समदृष्टि और समदृष्टिके धर्म में नहीं। उनका धर्म एक ही होता है। केवल देश सम्पूर्ण चारित्र का फर्क होता है।' स्वामीजी ने बड़े सुन्दर ढंग से शिक्षा दी है कि जिनधर्मी की श्रद्धा सम्पूर्ण होनी चाहिये। शक्ति के अनुसार चारित्र भेद तो स्वाभाविक है।

ज्ञान क्रिया का जोड़ा

स्वामीजी के समय में कई मतवाद खड़े हो गये थे। कई ज्ञान मात्र को मुक्ति का साधन मानते। कई ज्ञानशून्य क्रिया को। स्वामीजी ने इस विषय पर बड़ा सुन्दर विवेचन किया है। ज्ञान और क्रिया दोनों की एक साथ जरूरत होने की बात को उन्होंने बड़ी बारीकी से समझाया है:

'अंधा और पंगुला—दोनों एक साथ मिल कर अटवी को पार कर डालते हैं। उसी तरह ज्ञान क्रिया के संयोग से ही जीव मोक्ष पाता है। क्रिया

यो मुझे मालूम नहीं।" स्वामीजी बोले "आगे भी ऐसी ही समझ थी। रुपये होने से ज्ञान नहीं आ जाता।" "ज्ञान ज्ञानावर्णीय कर्मके क्षयोपशम से होता है और अर्थ लाभान्तराय कर्म के दूर होने से"—स्वामीजी ने यह भेद बतला कर गतानुगतिक रूप से आती हुई मूढ़ता को अपने आप समझने का मौका दिया।

कूर्मापुत्र के केवली होने का खुलासा

सं १८५४ के चातुर्मास में स्वामीजी खेरवे विराजे। स्वामीजी के साथ ४ साधु और थे। पर्यूषण पर्व के दिनों में कई श्रावक गच्छवासियों के उपाश्रय में व्याख्यान सुनने गए। वापिस आकर स्वामीजी से बोले "स्वामीजी! अभी हमलोग उपाश्रय में व्याख्यान सुनकर आये हैं कि कूर्मापुत्र ने केवल ज्ञान उत्पन्न होने के बाद ६ महीने तक राज्य किया। एक दिन वह राजसभा में बैठा था उस समय वहाँ दो साधु आये। आकर खड़े हो गये पर वन्दना न की। इस पर कूर्मापुत्र केवली ने उन साधुओं से पूछा: 'तुमलोगों ने मुझे वन्दना क्यों न की? मैं केवलज्ञानी हूँ'। तब उन साधुओं ने कहा — 'आपका भेष गृहस्थ का है इसलिये हमलोगों ने नमस्कार नहीं किया।' यह सुनकर कूर्मापुत्र बोला—ठीक-ठीक अब मैं समझा।" यह कह कर श्रावकों ने स्वामीजी से पूछा "क्या यह कथा सत्य है? केवलज्ञानी होनेके बाद ६ महीने तक इस प्रकार राज्य करने की बात कैसी-कैसी लगती है।" स्वामीजी बोले 'यह बात बिलकुल अनगढ़न्त है। राज मोहनीय कर्म के उदय से किया जाता है जब कि केवलज्ञान की प्राप्ति मोहनीय कर्म के सम्पूर्ण क्षय के बाद होती है। जो इस कथा को सत्य कहते हैं, न उनमें सम्यक्त्व है और न जो सुनकर सत्य मानते हैं उनमें ही।'

स्वामीजी की तत्त्वभेदिनी बुद्धि ने सत्यासत्य का निर्णय क्षण मात्र में ही कर दिया। कर्मों की प्रकृतियों का सूक्ष्म ज्ञान स्वामीजी को रगरग में

बड़े सुन्दर ढंग से प्रगट होता है। उनका दिव्य तत्वज्ञान क्षणमात्र में ही दृष्टि-उन्मेष कर देता।

साधु श्रावकके धर्म   या दो?

कई लोगों का सिद्धान्त था कि साधुधर्म और गृहस्थधर्म अलग-अलग हैं। स्वामीजी ने उनके एकत्व—पृथकत्व का विवेचन इस प्रकार किया है: "चौथे, पाँचवें, छठे, और तेरहवें गुणस्थान की श्रद्धा समान है परन्तु चारित्र का स्पर्श जुदा-जुदा है। जैसे सचित्त पानी में असंख्य जीव और नीलण-फूलण—काई में—अनन्त जीव होने का विश्वास चारों गुणस्थान वालों का समान है और उनमें पाप मानने की बुद्धि समान है इसलिये सबका धर्म भी समान है। चारित्र की स्पर्शना जुदी जुदी होने से चौथे और पाँचवें गुणस्थानवाले जीवों की हिंसा करते हैं और बाद के गुणस्थानवाले नहीं करते, परन्तु इससे उनके धर्म में जुदाई नहीं आती। यदि चौथे और पांचवें गुणस्थानवाले हिंसा में धर्म समझने लगें तभी उनका धर्म अलग समझना चाहिये क्योंकि ऐसा होते ही वे मिथ्यात्वी की श्रेणी में आ जाते हैं। मिथ्यात्वी और समदृष्टि के धर्म में फर्क हो सकता है, समदृष्टि और समदृष्टिके धर्म में नहीं। उनका धर्म एक ही होता है। केवल देश सम्पूर्ण चारित्र का फर्क होता है।' स्वामीजी ने बड़े सुन्दर ढग से शिक्षा दी है कि जिनधर्मी की श्रद्धा सम्पूर्ण होनी चाहिये। शक्ति के अनुसार चारित्र भेद तो स्वाभाविक है।

ज्ञान क्रिया का जोड़ा

स्वामीजी के समय मे कई मतवाद खड़े हो गये थे। कई ज्ञान मात्र को मुक्ति का साधन मानते। कई ज्ञानशून्य क्रिया को। स्वामीजी ने इस विषय पर बड़ा सुन्दर विवेचन किया है। ज्ञान और क्रिया दोनों की एक साथ जरूरत होने की बात को उन्होंने बड़ी बारीकी से समझाया है:

'अंधा और पंगुला—दोनों एक साथ मिल कर अटवी को पार कर डालते हैं। उसी तरह ज्ञान क्रिया के संयोग से ही जीव मोक्ष पाता है। क्रिया

थी मुझे मालूम नहीं।" स्वामीजी बोले "आगे भी ऐसी ही समझ थी। स्यये होने से ज्ञान नहीं आ जाता।" "ज्ञान ज्ञानावर्णीय कर्मके क्षयोपशम से होता है और अर्थ लाभान्तराय कर्म के दूर होने से"—स्वामीजी ने यह भेद बतला कर गतानुगतिक रूप से आती हुई मूढ़ता को अपने आप समझने का मौका दिया।

कूर्मापुत्र के केवली होने का खुलासा

सं १८५४ के चातुर्मास में स्वामीजी खेरवे विराजे। स्वामीजी के साथ ४ साधु और थे। पर्यूषण पर्व के दिनों में कई श्रावक गच्छवासियों के उपाश्रय में व्याख्यान सुनने गए। वापिस आकर स्वामीजी से बोले "स्वामीजी! अभी हमलोग उपाश्रय में व्याख्यान सुनकर आये हैं कि कूर्मापुत्र ने केवल ज्ञान उत्पन्न होने के बाद ६ महीने तक राज्य किया। एक दिन वह राजसभा में बैठा था उस समय वहाँ दो साधु आये। आकर खड़े हो गये पर वन्दना न की। इस पर कूर्मापुत्र केवली ने उन साधुओं से पूछा 'तुमलोगों ने मुझे वन्दना क्यों न की? मैं केवलज्ञानी हूँ'। तब उन साधुओं ने कहा —'आपका भेष गृहस्थ का है इसलिये हमलोगों ने नमस्कार नहीं किया।' यह सुनकर कूर्मापुत्र बोला—ठीक-ठीक अब मैं समझा।" यह कह कर श्रावकों ने स्वामीजी से पूछा "क्या यह कथा सत्य है? केवलज्ञानी होनेके बाद ६ महीने तक इस प्रकार राज्य करने की बात कैसी-कसी लगती है?" स्वामीजी बोले यह बात बिलकुल असंगतन्त है। राज मोहनीय कर्म के उदय से किया जाता है जब कि केवलज्ञान की प्राप्ति मोहनीय कर्म के सम्पूर्ण क्षय के बाद होती है। जो इस कथा का सत्य कहते हैं, न उनमें सम्यक्त्व है और न जो सुनकर सत्य मानते हैं उनमें ही।"

स्वामीजी की तत्त्वभेदिनी बुद्धि ने सत्यासत्य का निर्णय क्षण मात्र में ही कर दिया। कर्मों की प्रकृतियों का सूक्ष्म ज्ञान स्वामीजी को रचनाओं में

बड़े सुन्दर ढंग से प्रगट होता है। उनका दिव्य तत्त्वज्ञान क्षणमात्र में ही दृष्टि-उन्मेष कर देता।

साधु श्रावकके धर्म एक या दो?

कई लोगों का सिद्धान्त था कि साधुधर्म और गृहस्थधर्म अलग-अलग हैं। स्वामीजी ने उनके एकत्व—पृथक्त्व का विवेचन इस प्रकार किया है: "चौथे, पाँचवें, छठे, और तेरहवें गुणस्थान की श्रद्धा समान है परन्तु चारित्र का स्पर्श जुदा-जुदा है। जैसे सचित्त पानी में असंख्य जीव और नीलण-फूलण—काई में—अनन्त जीव होने का विश्वास चारों गुणस्थान वालों का समान है और उनमें पाप मानने की बुद्धि समान है इसलिये सबका धर्म भी समान है। चारित्र की स्पर्शना जुदी जुदी होने से चौथे और पाँचवें गुणस्थानवाले जीवों की हिंसा करते हैं और बाद के गुणस्थानवाले नहीं करते, परन्तु इससे उनके धर्म में जुदाई नहीं आती। यदि चौथे और पाँचवें गुणस्थानवाले हिंसा में धर्म समझने लगें तभी उनका धर्म अलग समझना चाहिये क्योंकि ऐसा होते ही वे मिथ्यात्वी की श्रेणी में आ जाते हैं। मिथ्यात्वी और समदृष्टि के धर्म में फर्क हो सकता है, समदृष्टि और समदृष्टिके धर्म में नहीं। उनका धर्म एक ही होता है। केवल देश सम्पूर्ण चारित्र का फर्क होता है।' स्वामीजी ने बड़े सुन्दर ढंग से शिक्षा दी है कि जिनधर्मी की श्रद्धा सम्पूर्ण होनी चाहिये। शक्ति के अनुसार चारित्र भेद तो स्वाभाविक है।

ज्ञान क्रिया का जोड़ा

स्वामीजी के समय में कई मतवाद खड़े हो गये थे। कई ज्ञान मात्र को मुक्ति का साधन मानते। कई ज्ञानशून्य क्रिया को। स्वामीजी ने इस विषय पर बड़ा सुन्दर विवेचन किया है। ज्ञान और क्रिया दोनों की एक साथ जरूरत होने की बात को उन्होंने बड़ी बारीकी से समझाया है:

'अन्धा और पंगुला—दोनों एक साथ मिल कर अटवी को पार कर डालते हैं। उसी तरह ज्ञान क्रिया के संयोग से ही जीव मोक्ष पाता है। क्रिया

ज्ञान नहीं है। वह जानती देखती नहीं। क्रिया तो कर्म को रोकने तोड़ने रूप—संवर-निर्जरा रूप भाव है। ज्ञान और दर्शन उपयोग हैं। वे बतलाते हैं—किस ओर दृष्टि रखना और किस मार्ग पर चलना। जो क्रिया को उपयोग कहते हैं, उनके मिथ्यात्व का गुरुतर रोग है। इसी तरह जो ज्ञान को क्रिया कहते हैं उनके भी मिथ्यात्व है। ज्ञान और क्रिया भिन्न २ हैं—दोनों को एक मत जानो। दोनों के स्वभाव भिन्न २ हैं। ज्ञान से जीवादि पदार्थ जाने जाते हैं। क्रिया से सन्मार्ग पर चला जाता है।

एक आदमी जानता है पर करता नहीं। दूसरा करता है पर जानता नहीं। ये दोनों ही मोक्ष नहीं पा सकते। जो जानता है (कि क्या करना) और (जो करना है वह) करता है वही मोक्ष पाता है।"

'ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्ष'—का कितना सुन्दर स्पष्टीकरण है।

पुण्य बंध कैसे होता है?

पुण्य शुभ कर्म को कहते हैं। पुण्य के उदय से हर तरह के सांसारिक भोगोपभोग प्राप्त होते हैं। स्वामीजी ने पुण्य की कामना न करनेका उपदेश देते हुए प्राप्त भोगोपभोग के त्याग का मार्मिक उपदेश दिया है। हम यहाँ उसका सार देते हैं —'पुण्य के सुख बड़े कच्चे होते हैं। उन्हें विनाश होते देर नहीं लगती। उनकी वाञ्छा नहीं करनी चाहिये जिससे कि शीघ्र ही भव-भ्रमण रूपी समुद्र से बेड़ा पार लगे। जो पुण्य की वाञ्छा करता है वह कामभोग की वांछा करता है। कामभोग से संसार की वृद्धि होती है और जन्म-मरण-शोक आदि दुःख सताते हैं। पुण्य के सुख अशाश्वत हैं पर वे भी करनी—शुभ कृत्यों के बिना संचित नहीं होते। पुण्य की वांछा से पुण्य उत्पन्न नहीं होते। वे तो निरवद्य योग—निर्जरा की क्रिया से सहज ही आकर लगते हैं। भली लेश्या, भले परिणामों से निश्चय ही निर्जरा होती है और उस समय पुण्य सहज स्वभाव से लग जाते हैं। जो निर्जरा की क्रिया करता हुआ पुण्य की कामना करता है वह मनुष्यजन्मको

अर्थ खोता है। पुण्य चोस्पर्शी कर्म हैं। जो उनकी वाञ्छा करते हैं वे मूढ़ हैं और कर्म धर्म को नहीं पहचानते। पुण्य से जो-जो वस्तु मिलती है उसके त्याग से निर्जरा होती है। जो पुण्य को गृद्ध होकर भोगता है उसके चिकने स्निग्ध कर्म बंध जाते हैं।"

भौतिक-उन्नति के चरम विकाश पर पहुँची हुई दुनिया आज भोगों में गृद्ध होकर किस तरह अपनी तबाही कर रही है वह सब की आँखों के सामने है। ऐश्वर्य की शोभा त्याग और अनासक्ति है, भोग और लिप्सा नहीं—यह बात स्वामीजी ने बड़े गभीर रूप से बतलाई है।

सकाम अकाम निर्जरा

आत्म-प्रदेशों से कर्मों के आंशिक रूप से दूर होने को निर्जरा कहते हैं—यह हम पहले बतला आए हैं। स्वामीजी ने अकाम और सकाम निर्जरा का भेद इस प्रकार स्पष्ट किया है: "निर्जरा दो तरह की होती है। एक अकाम और दूसरा सकाम। तालाब धूप, गर्मी से सूखता है और नल द्वारा उसका जल बाहर निकाल देने से भी। उसी तरह कर्म का क्षय घिस कर अपने आप भी होता है और इच्छा कर करने से भी होता है। भूख, तृषा, शीत, तपादि अनेक कष्ट, कर्मों के उदय से मनुष्य को भोगने पड़ते हैं। इस तरह उदय में आकर कर्मों के घिस कर झड़ जाने से जीव कुछ हल्का होता है। यह अकाम निर्जरा है। वह सहज ही होती है। जीव इसके लिए प्रयास नहीं करता।

जो बिना कामना सहज ही होती है वह अकाम निर्जरा है। कोई इहलोक के सुख के लिए तप करता है, कोई परलोक के लिए तप करता है। इसी तरह कोई यश महिमा के लिये तप करता है और इस तरह भी कर्म कड़ते हैं पर यह भी अकाम निर्जरा है। जिन-भगवान ने बारह प्रकार के तप बतलाए हैं। जो केवल कर्म काटने की भावना से इन तपों का आचरण करता है उसके आत्म-प्रदेश देशत उज्ज्वल होते जाते हैं। यह सकाम निर्जरा है। कर्म काटने की वांछा से :

की जाती है अतः उससे होने वाली निर्जरा भी सकाम हुई। जैसे साबुन डाल कर कपड़ों को तपाया जाता है, फिर जल से छांटकर उन्हें पीटा जाता है और फिर शुद्ध पानी से धोने से मैल छंट जाता है उसी तरह तप कर आत्मा को तपा, ज्ञान रूपी जल से छांट कर, ध्यान रूपी जलमें झकोलने से आत्म-प्रदेशों से कर्म-मैल झड़ जाता है। ज्ञान रूपी शुद्ध साबुन से तप रूपी निर्मल नीर लेकर अंतर-आत्मा रूपी धोबी अपने निज गुण रूपी चीर को धोता है तभी सकाम निर्जरा होती है। यही निर्जरा की शुद्ध क्रिया है। अनादि काल से सहज हो निर्जरा हो रही है उस अकाम निर्जरा से आत्मा का कार्य सिद्ध नहीं होता। वह निर्जरा तो हो-हो कर मिट जाती है। जो कर्म-बन्धन से, इच्छा कर, सद् उपाय द्वारा निवृत नहीं होता वह संसार में गोता खाता रहता है। जैसे मवाद से भरा हुआ फोड़ा उस समय तक सूखता नहीं जब तक कि नई मवाद की उत्पत्ति को रोक कर पुरानी मवाद निकाल उसे साफ नहीं किया जाता उसी तरह जीव उस समय तक कर्मों से मुक्त नहीं होता जब तक नए कर्मों के आगमन को रोककर चेष्टा पूर्वक सञ्चित कर्मों को उससे अलग नहीं किया जाता। अपने आप मवाद निकलते रहने पर भी जैसे घाव सूखता नहीं, वैसे ही अकाम निर्जरा होते रहने पर भी जीव कर्म रहित नहीं होता।"

धोबी और भरी निगल—फोड़े के रोजमर्रा अनुभव के दृष्टान्तों को देकर स्वामीजी ने गूढ़ विषय को भी कितना सरल बना दिया। सूखी चीज को सरस उसे जनग्राह्य बना देना—स्वामीजी की वाणी की एक खास विशेषता थी। उनका व्यवहारिक ज्ञान बड़ा चढ़ा-बढ़ा था। एक महान् वैज्ञानिक की तरह उनकी निरीक्षण शक्ति बड़ी तेज थी। वे साधारण जीवन की बातों को लेकर उनके आधार से गूढ़ तत्त्वज्ञान को भी जन-सुलभ कर देने की अनुपम क्षमता रखते थे। ऐसी शक्ति एक सहज ज्ञानी में ही मिल सकती है

नदी उतरना बनाम फूल चढ़ाना

स्वामीजी के गूढ़ तत्त्वज्ञान और गहरी आध्यात्म भावना को प्रगट करने वाले

और भी अनेक प्रसग यहाँ दिये जा सकते हैं पर स्थानाभाव से ऐसा करने में सकोच किया जाता है। केवल थोड़े से प्रसंग ही हम यहाँ और देते हैं।

एक बार एक देवलपंथी स्वामीजी से बोला: "आप जैसे नदी उतरने में धर्म बतलाते हैं वैसे ही फूल चढ़ाने में भी धर्म है"। स्वामीजी बोले "तुम लोगों के सामने तीन तरहके फूल हों—(१) सूखे (२) दो-तीन दिन के मुर्झाये और (३) कच्ची कलियाँ तो इन में से कौन से फूल चढ़ाओगे?" देवल पंथी बोला "चुन-चुन कर कच्ची कलियाँ चढ़ावेंगे।" स्वामीजी बोलेः "तुम लोगोंके परिणाम जीव-हिंसा के रहते हैं और हमलोगों के परिणाम दया पालन के। एक नदी में कमर तक का जल है, एक में घुटने तक का और एक नदी सूखी है। हम लोग इनमेंसे अधिक जल वाली नदी को २-४ कोस की अवलाई (घुराव) खा कर भी टालने (बचाने) की चेष्टा करते हैं और कम-से-कम जल वाली नदी से पार होते हैं। तुम जीवों को देख देख कर विनते हो। हमलोग देख देख कर टालते हैं। तुम्हारा और हमारा क्रम ही उलटा है। नदी उत्तरने के साथ फूल चढ़ाने की बातकी समानता नहीं।"

अन्तर भावना के सूक्ष्म सुन्दर विश्लेपण द्वारा कितना सुन्दर नीर-क्षीर विवेक किया है। स्वामीजी के तत्वज्ञान की विवेक पूर्ण तूलिका अपनी चित्रकारी में कितनी कुशल थी—यह उसका नमूना है। एक कुशल चित्रकार की तरह वे वारीक से वारीक रेखा को भी इतनी स्पष्टता से खींच सकते कि वह एक साधारण से साधारण मनुष्य के लिए भी सुवोध होती।

एक हों जांय

किसी ने स्वामीजी से कहाः "आप और बाईस सम्प्रदाय के साधु एक हो जाइए। स्वामीजी बोले "जिस प्रकार आप महाजन और आडी जात वाले एक नहीं हो सकते—एकता एक कुलमें जन्म लेने से ही होती है, उसी प्रकार सम्यक्त्व और आचरण ही हमारे कुल हैं। जो इनमें हमसे मिलते हैं वे ही हम में मिल सकते हैं"

एक से उत्कारों बिना एकता निभ नहीं सकती—इस तत्त्व को स्वामीजी ने एक हृदयग्राही ढ़ंग से समझाया है।

श्रावक में आत्मा सात या आठ ?

माधोपुर में गूजरमल जी और केसूरामजी श्रावक में चर्चा हुई। श्रावक के आत्मा ८ माननी चाहिये या ७ इस विषय को लेकर गहरी तन गई। स्वामीजी ने विषय का खुलासा इस प्रकार किया :

"श्रावक में चारित्र आत्मा सम्पूर्ण नहीं पाती इस अपेक्षा से सात और देश चारित्र आत्मा पाती है इस अपेक्षा से आठ आत्मा समझनी चाहिये।"

स्वामीजी ने अनेकान्त सिद्धान्त से तत्त्व का सुन्दर निचोड़ कर दिया।

कई भोले लोग कहा करते—"ये साधु लोग अपने व्रतों में दोष लगाते होंगे परन्तु अपने से तो अच्छे हैं। बिचारे कच्चा जल नहीं पीते, स्त्री नहीं रखते। इन गुणों के तो धारक हैं।" स्वामीजी ने इन की चर्चा की मीमांसा करते हुए कहा : 'कोई एकासन का व्रत ले चाहे जितनी रोटियाँ खाले तोभी इससे उसे व्रत-भंग का दोष नहीं लगता परन्तु जो उपवास का प्रत्याख्यान ले आधी रोटी भी खा लेता है, वह व्रत भंगका महा दोषी होता। इसी तरह जिन पाप के त्याग नहीं होते वह पापी और जो हिंसा, झूठ चोरी, मैथुन और परिग्रह—इन पांच पाप का त्याग कर साधु बनने के बाद अपने व्रतों को निर्मूल कर देता है, वह महा पापी कहलाता है। ऐसा पुरुष कभी पूजनीय नहीं होता।'

स्वामीजी ने शिथिलाचारी साधु को अव्रती गृहस्थ से अधिक पापी बतलाया है।

ज्ञान आत्मा में

किसी ने कहा 'पुस्तकों को जमीन पर नहीं रखना चाहिए। उनको पीठ देकर नहीं बैठना चाहिये। पुस्तकें ज्ञान है उनकी आशातना नहीं करनी चाहिये।" स्वामीजी ने कहा 'यदि पुस्तकों को ही ज्ञान समझते हो तो यह एक अनोखी सूझ है। यदि पुस्तकें फट जाय तो ज्ञान भी फट जाय। पुस्तकें सड़ जाय तो ज्ञान भी सड़ जाय।

यदि हवासे कागज उड़ जाय तो ज्ञान भी उड़ जाय। यदि अग्निसे पुस्तक जल जाय तो ज्ञान भी जल जाय। यदि पुस्तकें कोई चोर ले तो ज्ञान की भी चोरी हो गई। अक्षरों के आकार केवल पहचानने के चिन्ह हैं। पुस्तकों में जो बातें लिखी होती हैं उनको जानना ही ज्ञान है। जानना या ज्ञान आत्म-स्वरूप है। ज्ञान आत्माका चिन्ह है और सदा उसके अन्दर रहता है। पुस्तक पन्ने अजीव हैं और वे ज्ञान से भिन्न हैं। इनका नाश हो सकता है परन्तु ज्ञान का कभी नाश नहीं होता।"

साधु कौन ?

एक बार स्वामीजी से प्रश्न किया गया: "साधु किसे कहते हैं और असाधु किसे?" स्वामीजी ने उत्तर दिया: "रुपये उधार लेकर जो वादे पर वापिस कर देता है, वह साहूकार कहलाता है और जो रुपये लेकर वादे पर लौटाता नहीं और तकादा करने पर उलटा झगड़ा खड़ाकर देता है, वह दिवालिया कहलाता है। ठीक उसी तरह जो अहिंसा, सत्य, अचोरी, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूपी महाव्रतोंको अंगीकार कर उनका यथोचित पालन करते हुए उन्हें पार उतारता है वह सच्चा साधु है और जो इन ग्रहण किए हुए महाव्रतोंका सही-सही पालन नहीं करता वह असाधु है। आत्मा की साधना—यही साधुत्व है। इस साधनासे पतित न होना ही साधुत्व का चिन्ह है। जो दोष होने पर उसे स्वीकार नहीं करता और उसका यथोचित दण्ड नहीं लेता परन्तु उलटा दोषों को छिपाता या उन्हें धर्म सिद्ध करता है वह असाधु है।"

शिल्पी नहीं

किसीने स्वामीजी से कहा: "समझदार व्यक्ति तो बहुत हैं परन्तु समझते इतने थोड़े क्यों हैं?" स्वामीजी बोले: "मकराने के पत्थर में मूर्ति होने का गुण अवश्य है परन्तु इतने शिल्पी नहीं कि सभी मकराने के पत्थरों की मूर्तियाँ हो सकें। इसी प्रकार समझने वाले हलुकर्मी जीव बहुत होने पर भी उतने समझाने वाले कहाँ हैं जो समझ सकें।"

व्रत लोप का लाभालाभ

एक बार स्वामीजी को किसी ने कहा "आप किसी को सौगंध त्याग—प्रत्याख्यान कराते हैं उनको ग्रहण कर जो तोड़ता है—भंग करता है उसका पाप आपको होता है।" स्वामीजी ने तत्क्षण उदाहरण देकर उसे समझाया "एक साहूकार था। उसने ५०) में एक वस्त्र खरीदा और १००) में उसे बेच दिया। उसे ५०) रुपये का फायदा हुआ। इस साहूकार से जिसने वस्त्र खरीदा उसने २००) रुपये में बेच डाला। १००) का उसे लाभ हुआ। इस लाभ में प्रथम साहूकार का कोई भाग—अंश नहीं हो सकता। अब सोचो कि इस कपड़े को १०) के लाभ पर न बेच यदि साहूकार उस समूचे को जला डाले। यह नुकसान भी इस दूसरे साहूकार को ही होगा। प्रथम साहूकार इसका भागी नहीं होगा। इसी तरह हम जो समझा कर सौगन्ध—त्याग कराते हैं उसका नफा तो व्रतादि अंगीकार कराते समय ही हमको हो चुकता है। बाद में व्रत निभाने न निभाने की जिम्मेवारी व्रतधारी की होती है और निभाने न निभाने का लाभालाभ भी उसी को होता है। उसके साथ हमारा कोई सरोकार नहीं।"

रोग कैसे छूटे ?

एक रोगी को एक वैद्य ने कहा "यह औषधि पी लो, तुम्हारा रोग दूर हो जायगा।" रोगी बोला "यह औषधि मेरे मुंह में मत डालिए। इसे मेरी पीठ पर उंडेल दीजिए। यदि औषधि में गुण होगा तो पीठ पर डाल लेने से भी वह फायदा करेगी।"

जिस तरह पेट में डालने की दवा को पीठ पर डालने से कोई लाभ नहीं होता उसी तरह संतों के वचनों को सुन कर उन पर श्रद्धा लाए बिना मिथ्यात्व रोग नहीं मिटता। संतों की बताई हुई बात को श्रद्धापूर्वक व्यवहार में लाने से ही आत्मा के कष्ट कटते हैं।

देने में धर्म पाप

स्वामीजी से एक बार किसी ने प्रश्न किया "किसीने किसी को ग्यारहवीं

(पौषध) व्रत करने के लिए मकान दिया। इसमें उसको क्या हुआ?" स्वामीजी ने उत्तर दिया "घर मालिक ने यह जो कहा कि मेरे घर पौषध कीजिए सो उसमें धर्म हुआ।" प्रश्नकर्त्ताने फिर पूछा —"मकान दिया उसमें क्या हुआ?" स्वामीजी बोले: "मकान क्या समूचा—सदा के लिए दे दिया? मकान परिग्रह है। परिग्रह सेवनमें धर्म नहीं है और न सेवन कराने में धर्म है। मकान में सामायक प्रतिक्रमण करने दिया उसमें धर्म हुआ।"

पौषध और

किसीने कहा: "पौषध व्रत में थोड़े वस्त्र रखने वाले को थोड़ा और अधिक वस्त्र रखने वाले को अधिक अव्रत लगता है। यदि ऐसा नहीं तो पड़िलेहन न करने वाले को प्रायश्चित क्यों आता?" स्वामीजी ने खुलासा करते हुए कहा वस्त्र रखना कोई जरूरी नहीं है। वस्त्र नहीं रखने से पौषध व्रत और अच्छा होता है; लेकिन बिना वस्त्रों के जो परिषह—कष्ट होता है वह सहने की शक्ति न होने से वस्त्र रक्खा जाता है और बिना पड़िलेहन किए वस्त्र काम में लाने का त्याग है इसलिए पड़िलेहन करना पड़ता है। यदि वह पड़िलेहन किए बिना ही वस्त्र काममें लाता है तो उसके त्याग का भङ्ग होता है और इसलिए उसे प्रायश्चित आता है। जैसे किसी को बिना छाना पानी पीने का त्याग हो; अब जब वह पानी पीता है तो छान कर पानी पीता है। यदि नहीं छानता तो पानी नहीं पी सकता। पानी पीए बिना रहा नहीं जाता इसलिए पानी छानना पड़ता है। परन्तु वह पानी दया के लिए या त्याग निभाने के लिए नहीं छानता, उसका छानना सिर्फ प्यास बुझानेके लिए ही होता है। इसी तरह वस्त्र रख सकने के लिए ही वह पड़िलेहन करता है। बिना पड़िलेहन के वह वस्त्र रख ही नहीं सकता।

रक्षा किसकी ?

किसीने कहा: "सामायक करते समय शरीर का परिमार्जन कर खाज करने में धर्म और बिना परिमार्जन कर खाज करने में पाप होता है। स्वामीजी ने उसे समझाने के लिए प्रश्न किया: "कोई चींटी मच्छर आदि डंक मारता है तो वह शरीर

के मारता है कि सामायक के ?" उत्तर मिला—"शरीरके।" स्वामीजीने कहा "पूंज कर खाज करना यह सामायक की रक्षा है या अपने शरीर की ?" उत्तर मिला—"शरीर की।" "यत्न सामायक का करना चाहिए या शरीर का ?" जवाब मिला सामायिक का।" स्वामीजीने कहा "सामायक का यत्न तब अधिक होगा जब वह किसीके डंक मारने पर समभावपूर्वक सहन करेगा। खाज न करनेसे सामायक भंग न हो कर पुष्ट ही होगी। परिमार्जन कर या बिना परिमार्जन खाज करना शरीर का यत्न है। उसमें धर्म नहीं।"

गाड़ी और गदहा

किसीने स्वामीजी से प्रश्न किया "कोई साधु रास्ते में थक गया हो और उधर सहज ही में कोई गाड़ी आ गई हो तो उस पर साधु को बिठाकर लाया जाय तो यह कार्य कैसा ?" स्वामीजी बोले—"अगर गाड़ीके बदले गदहा हो और उस पर बैठाया जाय तो कैसा ?" प्रश्न कर्ता मुंझला कर बोला —"आप गदहा का जिक्र क्यों करते हैं ?" स्वामीजीने उत्तर दिया—"साधुके लिये गाड़ी पर चढ़ना उतना ही उपहास्यास्पद है जितना कि गदहे पर चढ़ना।"

स्थानक कैसे ?

जो साधुओंके निमित्त बनाए हुए स्थानकों में रहते हैं और यह कह कर कि हमने कब स्थानक बनानेके लिए कहा था अपने काम को निर्दोष ठहराते हैं, उनके लिए स्वामीजी ने निम्न दृष्टान्त दिया " जमाई ससुराल जाता है तब वह कब कहता है कि मेरे लिए हलुआ बनवाइए परन्तु चूंकि हलुआ बनाने पर वह खाता है इसलिए ससुराल वाले हलुवा बनाते हैं। यदि वह हलुआ खाने का त्याग कर दे तो उसके लिए हलुवा नहीं बनाया जायगा। इसी तरह लड़का कब कहता है कि मेरी सगाई कीजिए, परन्तु माता-पिताके सगाई करने पर खुशी-खुशी विवाह कर लेता है इसलिए माता-पिता सगाई और विवाह करते हैं। यदि लड़का विवाह न करने की कसम खा जाय तो माता पिता उसकी सगाई नहीं करेंगे। उसी तरह साधु लोग नहीं कहते कि हमारे लिए स्थानक बनाओ परंतु जब गृहस्थ लोग उनके लिये स्थानक बनाते हैं तो वे उनमें रहने लगते हैं। यदि वे स्थानक में ठहरने का त्याग कर दें तो श्रावक भी स्थानक बनाना छोड़ दें।

: ७ :

आध्यात्मिक योगी

मिथिला के अधिपति नमि राजर्षिने पुत्र को राज्य सौंप दीक्षा ली। उस समय इन्द्र ब्राह्मण का रूप धारण कर नमि राजर्षि के पास आ बोलने लगा—"हे भगवन्! अग्नि और वायुके द्वारा ये मन्दिर और आप का अन्तःपुर दग्ध हो रहे हैं। जरा उनकी ओर दृष्टि क्यों नहीं डालते ?" नमि राजर्षि ने जवाब दिया: "मिथिला नगरी में हमारा कुछ नहीं। मिथिला के जलने से हमारा कुछ नहीं जलता। मैं तो सुखपूर्वक जीता और बसता हूँ। जिस भिक्षु ने पुत्र कलात्रादि का त्याग कर दिया और जो सर्व व्यापार से रहित है उसके लिये प्रिय अप्रिय कुछ भी नहीं। सर्वतः विमुक्त एकान्तानुपश्यी–आत्मलक्षी–मुनि, अनगार, भिक्षु को हमेशा क्षेम कुशल है।" नमि राजर्षि के इस उत्तर से उनकी आत्म-दशा का पूरा-पूरा पता चलता है। यह एक आत्मज्ञानी की अनूठी आत्मदशा थी, जिसे त्यागी वैरागी ही समझ सकते हैं। स्वामीजी की आत्म-दशा भी ऐसी ही निर्विकार थी। वे एक अनूठे आत्मज्ञानी थे। शुद्ध आत्मदशा को प्राप्त करना—यही स्वामीजी के जीवन की साध थी और इसी कारण से उनकी चित्तवृत्ति सब विकल्पों से परे रह कर उसकी साधना में एकान्त निमग्न थी। जब हम स्वामीजी को इसी तरह के एकान्त-अनुपश्यी—आत्मलक्षी के रूप में देखने की चेष्टा करते हैं तभी हमें उनकी सच्ची तह लग पाती है। स्वामीजी अपनी आत्मा में ही बसते और जीते थे। आत्म-वास ही उनके लिये सब से बड़ा कुशल और क्षेम था। बाह्य सांसारिक विकल्पों में वे मुरझाते नहीं थे। स्वामीजी कहा करते: "समभाव राखै ते सुज्ञानी" –जो आत्मा को तौल कर रखता है, रागद्वेष के वश समभाव को—चित्त-समाधि

को नहीं खोता, वही सच्चा ज्ञानी है।" स्वामीजी जीवन के प्रतिपल इस समभाव की रक्षा करते थे। उनकी अन्तर-भावना धर्म-ध्यान से ओत प्रोत रहती और हर समय वे आत्मा के एकान्त हित की बात को सामने रख कर ही कदम उठाते। वे एक आध्यात्मिक योगी थे। आत्म-साधना उनके जीवन का महा योग था। उनके विचारों और दृष्टान्तों में आध्यात्मिकता कूट-कूट कर भरी हुई है। हम उनके कुछ विचार यहाँ उपस्थित करते हैं जिससे कि पाठकों को उनके जीवन की इस विशेषता का अंदाजा हो सके।

मृत्यु और मोह

रोग, वियोग, मृत्यु आदि कष्ट पड़ने पर संसारी लोग रोना-पीटना करने लगते हैं। स्वामीजी ने एक बार कहा था "ऐसे अवसरों पर रोना-पीटना नहीं चाहिए। अपनी आत्मा को मजबूत बना लेना चाहिए। धैर्य और समभाव से सहन करना चाहिए। सिर पर कर्ज होने से उतारने की इच्छा व समर्थ न होने पर भी जैसे पाने वाला जबरदस्ती अपने रुपये अदा कर लेता है, उसी तरह संचित कर्म उदय में आकर फल दिए बिना नहीं रह सकते। जब महाजन कर्ज अदा करता है तो मुख होने लगता है पर चतुर विचार करता है 'लो चलो अच्छा ही हुआ। कुछ बोझा तो हलका हुआ। रुपये तो अंत-पत देने ही पड़ते। आज ही चुक गए तो टण्टा नहीं रहा'। इसी तरह से कष्ट के समय सोचना चाहिए— यह कर्म-कर्ज चुक रहा है। आज नहीं तो कल संचित कर्मों का फल तो भोगना ही पड़ता। अच्छा हुआ जो आज ही उदय में आ गए। कुछ तो आत्मा हलकी हुई'।"

स्वामीजी के उपरोक्त उपदेश में उनकी आध्यात्मिकता फूट पड़ती है। शोक विह्वल मनुष्य के लिए कितना सुन्दर उपदेश उपरोक्त वतरण में है।

इसी तरह स्वामीजी ने एक बार कहा था 'एक मनुष्य विवाह के कुछ दिनों बाद ही बाल्यावस्था में चल बसा। यह सुन कर लोगों में हाहाकार मच गया लोग कहने लगे बेचारी बारह वर्ष की लड़की का क्या हवाल होगा? उसके दिन कैसे कटेंगे? गजब हो गया। इस तरह विलाप कर लोग सोचते हैं मानों व क्या

-कर रहे हैं। परन्तु वास्तव में वे उसके भोग—ऐशोआराम की ही चिंता करते हैं। सभी लोग यही सोचते हैं कि यदि लड़का जीता रहता तो २।४ लड़के -लड़कि होते। लड़की को सुख मि ा। परन्तु क्या यह भी कोई सोचता है कि इन भोगों के सेवन से लड़की का क्या हवाल होता? न कोई यही सोचता है कि मृत लड़के की सेवन से क्या गति हुई होगी। संसारी लोगों की सत्य की ओर दृष्टि जानी मुश्किल है। ज्ञानीपुरुष जन्म-मरण का हर्ष शोक नहीं करते। वे केवल परभव की चिंता करते हैं।"

स्वामीजी ने कितना सुन्दर विवेक दिया है। हम मौत देख कर स्वयं विह्वल हो जाते हैं और विधवा को भी उसकी याद दिला-दिला कर उसके जीवन को दुर्वह कर देते हैं। जीवन को धर्मध्यान में लगा देने से यह वियोग-व्यथा कितनी शांत हो सकती है और जीवन-वहन कितना सरल—यह स्वामीजी के उपरोक्त अवतरण से चाहिए।

पाँच महाव्रत और उनकी संगति

स्वामीजी कहा करते थे कि हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह इन पाँचों पापों के युगपत् त्याग से ही कोई जैन साधु बन सकता है। ऐसा त्याग भी सर्वथा और यावज्जीवक होना चाहिए। जो एक या अधिक पापों का त्याग करता है परन्तु सब का एक साथ नहीं, अथवा त्याग तो सब का करता है परन्तु सम्पूर्ण रूप से—तीन करण तीन योग से नहीं—वह गृहाचारी है—साधु नहीं। सर्व पापों से एक साथ सम्पूर्ण विरति को ही महाव्रत कहते हैं।

ीजी ने अपने इस सिद्धान्त को गुरु-शिष्य के सवाद रूप में बहुत सुन्दर ढंग से समझाया है :

गुरु : "हिंसा, चोरी, झूठ, अब्रह्मचर्य और परिग्रह इन दुष्कर्मों के आचारण से जीव कर्मों को उपार्जन कर चार गति रूप संसार में भ्रमण करता है।

अहिंसा, अमिथ्या, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांचों महाव्रतों का निर-

विचार पालन करने वाला अनगार नये कर्मों का उपार्जन न करता हुआ पुराने कर्मों का क्षय करता है और इस प्रकार अपनी आत्मा को निर्मल कर मोक्ष प्राप्त करता है।"

शिष्य "मैं पहला महाव्रत ग्रहण करता हूँ—मैं ६ प्रकार के जीवों की हिंसा नहीं करूँगा परन्तु मेरी जबान इतनी वश नहीं कि मैं झूठ छोड़ सकूँ। अतः स्वामीजी! झूठ बोलने की मुझे छूट है।"

गुरु "भगवान के बताए हुए पाँच महाव्रत इस तरह ग्रहण नहीं किए जाते। जब तुम झूठ बोलने के त्याग नहीं करते तब यह विश्वास कैसे हो कि तुम हिंसा में धर्म नहीं ठहराओगे। झूठ बोलनेवाला यह कहते संकोच कैसे करेगा कि देव गुरु और धर्म के लिये प्राणियों की हिंसा करने में बुराई नहीं और आरम्भादि कर देवलादि बनाने से जीव भली गति को प्राप्त करता है। मिथ्या भाषण द्वारा कोई इस सिद्धान्त का प्रचार करने लग जाय कि हिंसा में भी धर्म है तो महाव्रत की तो बात दूर रही सम्यक्त्व और चली जाय।"

शिष्य "स्वामिन्! मैं हिंसा और झूठ दोनों का त्याग करूँगा परन्तु चोरी नहीं छोड़ सकता। धन से मुझे अनन्त मोह है।"

गुरु "यदि तू जीव हिंसा नहीं करेगा और झूठ नहीं बोलेगा तो तेरी चोरी कैसे निभेगी? यदि तू चोरी कर सत्य बोलेगा तो लोग तुझे चोरी कब करने देंगे? वे तो तुझे मुँह पर ही फटकार बतायेंगे। परधन की चोरी करने से मालिक दुःख पाता है। किसी को दुःख देना हिंसा है। यदि तू कहेगा कि इसमें हिंसा नहीं तो पहले दोनों ही महाव्रत चकनाचूर हो जायेंगे।"

शिष्य "मैं तीनों महाव्रतों को [illegible] ग्रहण करता हूँ। परन्तु चौथा महाव्रत स्वीकार करना—मुझ [illegible] उदय से मेरी आत्मा वश नहीं। मैं ब्रह्मचर्य पूर्वक कैसे [illegible]

गुरु : "चौथे आश्रव—अब्रह्मचर्य के सेवन से पहले तीनों महाव्रत भंग हो जाते हैं। अब्रह्मचर्य सब गुणों को एक पलक मात्र में ही उस तरह छार कर देता है जिस तरह पीनी हुई रूई को आग। मैथुन से पंचेंद्रिय जीवों की हिंसा होती है। हिंसा नहीं होती ऐसा कहने से झूठ का दोष लगता है। अब्रह्मचर्य सेवन में जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा नहीं। मैथुन सेवन से भगवान की आज्ञा का भंग होता है—उसकी चोरी लगती है। इस तरह तीनों ही महाव्रत खण्डित हो जाते हैं।"

शिष्य : "मैं चारों ही महाव्रतों को ग्रहण करता हूँ; परन्तु पाँचवां महाव्रत कैसे ग्रहण करूँ ? ममता छोड़ना मेरे लिए कठिन है। मैं नव ही प्रकार का परिग्रह रखूंगा।"

गुरु : "क्षेत्र-वास्तु, धन-धान्य, द्विपद-चौपद हिरण्य-सुवर्ण और कुम्भी धातु—ये परिग्रह—हिंसा, झूठ चोरी और अब्रह्मचर्य—इन चारों आश्रवों के मूल—आधार हैं। तू परिग्रह की छूट रख कर अन्य व्रतों का किस तरह पालन करेगा ?" ऐसा कहना तो तुम्हारी निरी भूल है।"

शिष्य : "खैर मैं पांचों ही आश्रवों का त्याग करूँगा परन्तु केवल एक करण तीन योग से। मेरे स्नेही संगी बहुत हैं, अतः मैं कराने और अनुमोदन करने की छूट रखता हूं।"

गुरु : "घर में थे तब तो तुम्हारी कोई गिनती ही नहीं करता था और खाने के लिये तुम्हें अनाज तक नहीं मिलता था और अब भगवान के साधुओं का वेष ग्रहण करने की इच्छा कर राज्य करने चले हो। तूने त्याग कर केवल अपना घर त्यागा है—उसमें हो कर कितना धन-धान्य होगा ? अब तो तू लोक में हुक्म चलाने की मन्शा करता है—इस हिसाब से तू एक महा राजा से कम कहां है ?"

शिष्य : " मैं पांचों ही आश्रवों का २ करण ३ योग से त्याग करता हूं। अब

केवल अनुमोदन की छूट बाकी रहती है। अब मेरे वैराग्य में कोई कमी नहीं।"

गुरु "अनुमोदन की छूट रख लेने से तू अशुद्ध आहार बहरेगा—गृहस्थ के साथ तुम्हारा सभोग बना रहेगा—और इससे तुम्हारे पाँचों ही महाव्रतों में बिगाड़ हो जायगा। पाँचों ही आस्रवों में हर्ष भाव रहने से उनके प्रति तुम्हारा आदरभाव नहीं छूटेगा। इस तरह मन, वचन, काया—इन तीनों ही योग के विषयों में तुम्हारा आर्त-रौद्र ध्यान रहेगा।

पाँचों ही आस्रवों का तीन करण तीन योग से परिहार किए बिना कोई अणगार नहीं बन सकता। धर्म और शुक्ल ध्यान के ध्यान से ही अणगार होता है।"

यह सुन कर शिष्य ने पाँचों महाव्रत युगपत् रूप से और तीन करण तीन योग से यावज्जीवन के लिये ग्रहण कर आत्म-कल्याण किया।

गीता में कहा है :

> या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
> यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने ॥

इसका अर्थ है ' जो सम्पूर्ण प्राणियों के लिए रात्रि है उस नित्य शुद्ध बोधस्वरूप परमानन्द में संयमी पुरुष जागता है और जिस नाशशील क्षणभङ्गुर सांसारिक सुख में समस्त भूतप्राणी जागते हैं वह तत्त्ववेत्ता मुनि के लिए रात्रि है।"

गीता का यह श्लोक स्वामीजी की चितवृत्ति पर सम्पूर्ण रूप से लागू पड़ता है। दुनिया जन्म मृत्यु में हर्ष-शोक मनाती है। स्वामीजी आत्मा को अमर समझ मग्न रहने का उपदेश करते हैं। 'त्यांरी लागी मुक्ति सूं ताली'—वे कहते हैं ज्ञानी की धुन मोक्ष में लगी होती है।

'रहृया धर्म शुक्ल ध्यान ध्याई'—वे धर्म शुक्ल ध्यान में रत रहते हैं। दुनिया हिंसा, झूठ, चोरी अब्रह्मचर्य और परिग्रह बिना अपना गुजर नहीं देखती। स्वामीजी ने इनके सर्वथा और युगपत् त्याग की आवश्यकता बतलायी है। आन्तरिक मुमुक्षुभाव और आध्यात्मिकता बिना—यह सत्य दृष्टि संभव नहीं।

: ८ :

महान् कवि

हम पूर्व में एक जगह कह आए हैं कि स्वामीजी ने मारवाड़ी भाषा में अनेक महत्वपूर्ण कृतियाँ छोड़ी हैं, जो जैन साहित्य की अमर कृतियाँ कही जा सकती हैं। उनकी अधिकांश रचनाएँ ढालों—सगीतपूर्ण कविता में हैं। गद्य में भी उन्होंने जो थोड़ा लिखा है, वह कई दृष्टियोंसे बड़ा महत्वपूर्ण है। स्वामीजी में कवित्व शक्ति एक सहज संस्कार था। उनके शब्दों में मिठास और अपूर्व भाव-अभिव्यक्ति है। भावों में मौलिकता और चमत्कार ठसाठस भरे हैं। उनके शब्द नपे-तुले और रचनाएँ चुस्त हैं। उनमें शब्द परिवर्तन की गुंजाइश नहीं। मारवाड़ी भाषाके मुहावरे जगह-जगह दृष्टिगोचर होते हैं। स्वामीजी में हेतु (कथा, दृष्टान्त) देने की शक्ति बड़ी विचक्षण थी। उनकी रचनाएं मौलिक दृष्टान्तोंसे भरी पड़ी हैं। स्वामीजी एक लोक-कवि थे और उच्चे दर्जेके सगीतज्ञ भी। वे गायक कवि थे। उनकी रचनाएं मारवाड़ी भाषा की classical लोक-प्रचलित रागिनियों में हैं। आप उन्हें पढ़ते जाइए और वे याद होती जाती हैं। कवि की भावुकता और ऊंचे दर्जे की दार्शनिकता आप को जगह-जगह आनन्द विभोर कर देगी। स्वामीजी की कविताओं के पीछे गहरी आगम-दृष्टि और जीवन-व्यापी अनुभव मिलेगा। जैन धर्मके प्रति अगाध श्रद्धा और उसके उद्धारके लिए उनके हृदय में रही हुई गहरी तमन्ना जगह-जगह दृष्टि गोचर होती है।

स्वामीजी एक महान् आध्यात्मिक कवि थे। उनकी कवित्व-प्रतिभा बड़ी अद्भुत थी। कविता बनानेके लिए उन्हें परिश्रम करने की जरूरत नहीं पड़ती। हिमालय की चट्टानोंसे जैसे कलकल करती हुई गगा बहती है, वैसे ही उनके मुखसे कविता सहज झंकार और द्रुतगतिके साथ प्रवाहित होती। वे बात की बात में कविता

बना डालते। जैसे हम भाषा में बोलते हैं वैसे ही वे सहज स्वभावसे कविता में बोल सकते। ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जो उनकी शीघ्र कवित्व शक्ति का प्रदर्शन कराते हैं। हम दो एक उदाहरण यहां देते हैं।

एक बार आगरिया गाँव में प्रतापजी कोठारी ने आश्चर्य कर पूछा "आप इतनी जोड़ (पद्य-रचना) कैसे करते हैं ?" स्वामीजीके समीप एक छोटी-सी डोकसी-रक्खी हुई थी, जिसके ऊपर का कपड़ा उड़ गया। स्वामीजी ने पद बनाया

"नान्ही-सी या ढोकसी
इणरे माय पड्यो सपेतो रे
यत्न घणा कर राखज्यो
नहीं तर मांय पडेली रेतो रे"

पद कह कर स्वामीजी बोले "हम इसी प्रकार जोड़—रचना करते हैं।" स्वामीजी ने क्षण मात्र में कितना उपदेशपूर्ण पद बना दिया।

एक और भी ऐसी ही घटना है जिससे स्वामीजी की आशु कवित्व शक्ति का परिचय मिलेगा। सिरियारी में मुत्सद्दी विजयसिंहजी ने स्वामीजी के दर्शन किए। संसार आदि अनादिके सम्बन्ध में प्रश्न करने पर स्वामीजी ने 'मोर-अण्डा, एरण हथौड़ा बाप-बेटा आदि के दृष्टान्त दे बहुत ही सुन्दर ढंगसे उन्हें समझाया। उत्तर सुन मुत्सद्दीजी बोले "आपकी बुद्धि बहुत देशों को परोटे(उन पर राज्य करे) ऐसी है।" स्वामीजी ने निम्न लिखित पद जोड़ कर वापिस जवाब दिया

"बुद्धि माही सराहिए
जो सेवे जिन-धर्म
या बुद्धि किण कामरी
जो पड़िया बांधे कर्म"

"उस राजबुद्धि से क्या प्रयोजन जिससे सिर्फ कर्मों का ही बन्ध होता है। वही बुद्धि सराहनीय है, जिससे जिन-धर्म सेवित है।" जैन-धर्मके प्रति अगाध प्रेम और कविता की प्रज्ञा—स्वामीजी की इन दोनों विशेषताओं के दर्शन इस अमर पद में एक ही साथ होते हैं। स्वामीजी की बुद्धि की तीक्ष्णता और अद्भुत मति और श्रुतज्ञान के तो सभी थे।

स्वामीजीने छोटी-छोटी कृतियोंके साथ-साथ बड़ी-बड़ी कृतियाँ भी दी हैं और सब में उनकी कवित्व शक्ति समान ओज है। संगीत पूर्ण ढालों के दोहे और सोरठे चमत्कार सा पैदा करते हैं।

एक द्वन्द्व है। इसमें बड़ी विचित्रता है। ऊपर है और नीचे पाताल। एक और गगन भेदी पर्वत हैं और दूसरी ओर पाताल भेदी समुद्र। ऐसी विरोधी विचित्रता मनुष्य के जीवन में भी है। इस विचित्रता और उसके कारण का ही गंभीर और तलस्पर्शी वर्णन स्वामीजी ने चन्द सोरठों में किया है। हम इन सोरठों को यहाँ देते हैं:

एक नर पंडित प्रवीण रे, एक ने आखर ना चढ़ै
एक नर मूर्ख दीन रे, भाग विना भटकत फिरे
एकण रे भरिया भंडार रे, सम्पत घर में घणी
एकण रे नहीं लिगार रे, दीधा सोइ पाइए
एकण रे आभूषण अनेक रे, गहणा विविध प्रकार ना
एकण रे नहीं एक रे, वस्त्र बिना नागो फिरे
एक नर जीमै कूर रे, सीरो पूरी लापसी
एकण रे नहीं कूर रे, भीख मांगत भटकत फिरे
एक नर पोढै खाट रे, सेज बिछाई ऊपरै
एक नर ढूंढै हाट रे, आदर मान किहा नहीं

"एक नर हय असवार रे, चढ़े हस्ती ने पालखी
एकण रे सिर भार रे, गांव गाम भटकत फिरे
एकण रे रहे हजूर रे, हाथ जोड़ हाजर रहे
एक नर ने करै दूर रे, निजर मेले नहीं तेहसूं
एक नर सुन्दर रूप रे गमतो लागे सकल ने
एकज काली कुरूप रे गमतो न लागे केहने
एक बालक विधवा नार रे रात दिवस झूरे घणी
एक सज सोले सिणगार रे रुत २ ना फल भोग
एक नर छत्र धराय रे, आण मनावे देश में
एक नर अलाणे पाय रे, फिरे घर घर टुकड़ा मांगतो
एक बैस सिंघासण पाट रे हुक्म चलावे लोक में
एक फिरेज हाटो हाट रे, एक कोडी रे कारणे
एक नर निरमल देह रे, एक ने रोग पीड़ा घणी
किसो कीजै अहमेव रे, किया सोई पाइए
एक सारे निज काज रे, सयम मारग आदरे
एकज विलपे राज रे, काज बिगाड़े आपणो
एक रमै नर नार रे, मद मांस दारू भक्षण करे
त्यारै दया न हिये लिगार रे, ते सुख पावे किण विधे
एक नर पाले सील रे, साध तणी सेवा करे
पामै अविचल लील रे, मोक्ष तणा सुख सासता
निरफल रूँखज होय रे निरफल होय ज्यावे असतरी
सुणज्यो भवियण लोय रे, करणी करे निरफल नहीं

"मनुष्य करता है वैसा ही पाता है। रूख—वृक्ष निष्फल हो सकता है, स्त्री निष्फल हो सकती है, पर हे भविजन! करणी—धर्म-क्रिया कभी निष्फल नहीं हो सकती।"

कवि ने एक निश्चल सत्य को कितने सुन्दर ढग से वीणावद्ध कर दिया है। वृक्ष और स्त्री का निष्फल होना देखा जाता है पर करणी कभी निष्फल नहीं जाती—यही कारण है कि जगत् में इतनी विचित्रता है। प्रत्येक सोरठे में एक ओर हद दर्जे की भाग्यशीलता और दूसरी ओर हद दर्जे की भाग्यहीनता के उदाहरण फौज के मार्च (March) के समय समानान्तर से ऊपर उठते और नीचे गिरते दायें बाए पैर की हलचल का दृश्य उपस्थित कर देते हैं। कवि की प्रौढ़ कल्पनाशक्ति सुन्दर शब्दों के अलंकारों से विभूषित हो, एक अनूठे वैभव के साथ नृत्य करती है। कवि एक अनोखी भाव तन्मयता में कहता है : "ससार में ३ की विचित्रता प्रगट देखी जाती है फिर कार्य की विचित्रता क्यों नहीं होगी? एक संयम-मार्ग को ग्रहण करता और दूसरा राज-सुखों में विलास करता है; फिर क्यों नहीं एक अपना कार्य सिद्ध करेगा और दूसरा अपना कार्य बिगाड़ेगा? एक मनुष्य नारियों में लीला करता है और मद मांस का भक्षण कर निर्दयता का परिचय देता है। दूसरा मनुष्य शील—ब्रह्मचर्य का पालन करता है और साधुओं की सेवा करता है। फिर पहले पुरुष को क्यों सुख होगा और क्यों नहीं दूसरा मनुष्य मोक्ष के शाश्वत सुखोंमें अविचल लीला करेगा?" कितनी सुन्दर दलील है। सत्कर्मोंके लिए एक सजीव प्रेरणा नदी की धारा की तरह हृदय प्रांगण में दौड़ने लगती है। सरल भाषा में गभीर ज्ञान यह लोक कवि का लक्षण है। स्वामीजी खरे अर्थ में एक ज्ञानी कवि थे। वे एक ओजस्वी सुधारवादी लोक कवि थे।

सोरठों की तरह स्वामीजी के दोहे भी बड़े ही सरस और उपदेश पूर्ण हैं। 'शील की नववाड़'–ब्रह्मचर्य विषय का एक सुन्दर काव्य है। कवि की काव्य-कौमुदी इस रचना में अपनी सम्पूर्ण छटा के साथ प्रसारित हुई है। रचना में सर्वत्र एक समान भावप्रवणता और सौष्ठव नजर आता है। इस रचना के दोहों को कण्ठस्थ कर उनका पाठ करते रहने से ब्रह्मचर्य पालन में सिद्ध-कवच का सा सहारा

मिलता है। इस रचना को हम ब्रह्मचर्य का सिद्धि-यंत्र कह सकते हैं। स्थानाभाव से हम यहाँ केवल दोहों का ही संग्रह देते हैं।

हिवे कहूं छूं छूई छुई, शील तणी नव बाड़
दसमो कोट तो चिहु दिशा, ताहि ब्रह्मचर्य विस्तार
खेत गांव ने गोरवें, न रहे न कीधा बाड़
रहसी तो खेत इण विधे, दोली कीधां बाड़
ब्रह्मचारी विचरे मठे, ठाम ठाम छे *
तिण कारण इण शील री, जोर कही नव ●
बाड़ न लोपे देहलो, रहे ब्रत अभंग
वयरागी विरक्त थका, दिन २ चढ़ते रंग
पहली बाड़ में इम कह्यो, नारि रहे तिहां रात
तिण ठामे रहणो नहीं, रह्यां व्रत तणी हुवे घात
अथवा नारी एकली, भली न संग तास
धमकथा कहनो नहीं, बैठी तिण रे पास
तिण थी अवगुण ऊपजे, शंका पामे लोक
आवे क   थिर, भले होवे व्रत नो फोक
कंथ - कहनी नार नी, ते जिन कही दूजी बाड़
नारी कथा कहे वेहस, व्रत रो हुवे बिगाड़
ते शील रह्यां ब्रह्म व्रत में, तिणरे विषै नहीं मन माहि
ते ब्रह्मचारी ने नारी कथा, करवो सोमे नाहि
तीजी बाड़ में इम कह्यो, ब्रह्मचारी नारी सहीत
एकण शिज्या नहीं बेसणो, या जिन मारगरी रीत
अगन कुंड पासे रहे तो पिघले घृतनो कुम्भ
ज्युं नारी संगत पुरुष नो, रहे किसी पर ब्रह्म

ब्रह्मचारी योगी यती, मत कर नारि
एकण सिज्या ˆ ; होवे व्रतनो भङ्ग
पावक गाले लोह ने, जो रहे पावक सङ्ग
त्युं एकण सिज्या बैसतां, न रहे व्रत रङ्ग
नारी रूप नहीं निरखणो, या जिन कही चौथी बाड़
मने जे पालसी, त्यां सफल कियो अवतार
चित्र लिखित जे पूतली, ते पिण जोयवी नांहि
केवल ज्ञानी इम कह्यो, दशवैकालिक मांहि
भींत परेच टाट आतरे, तिहां रहता हुवे नर नार
तिहा ब्रह्मचारी ने रेहवो नहीं, ए जिन कही पांचमी बाड़
संजोगी पासे रहे, ब्रह्मचारी दिन रात
ते तणा शब्द सांभल्या, हुवे व्रत नी घात
छठी बाड़ में इम कह्यो, चञ्चल मन मति डिगाय
खाधो पीधो विलसियो, ते मती याद अणाय
मन गमता भोग भोगव्या, ते याद कियां गुण नांहि
बाड़ भांग्या व्रत खै हुवे, वले अजस हुवे लोग मांहि
नित २ अति सरस आहार ने, बरज्यो सातमी बाड़
ते ब्रह्मचारी नित भोगवे, तो व्रत रो हुवे बिगाड़
घृतादिक स्युं पूरण भर्यो, एहवो भारी आहार
ते धातु दीपावै अति घणो, तिण स्यू वधे विकार
खाटो खारो चरपरो, मीठो भोजन जेह
विविधपने रस नीपजै, ते रसना सर्व रस लेह

जेहनी रसना बस नहीं ते खावे सरस आहार
व्रत भांग भागल हुवे, खोवे ब्रह्मव्रत सार
आठमी बाड़ में इम कह्यो चांप न करणो आहार
प्रमाण लोप अधिको करे तो मन रो हुवे बिगाड़
अति आहार थी दुःख हुवे, गले रूप बल जाय
प्रमाद निद्रा आलस हुवे, बले अनेक रोग होय जाय
अति आहार थी विषे बधे, पणोइज फाटे पेट
धान अमाऊ ठूंसतां, हांडी फूटे नेट
नवमी बाड़ ब्रह्मचर्य नी, विभूषा न करणी अङ्ग
विभूषा कीधां थकां, पावे व्रत नो भङ्ग
शरीर विभूषा जे करे, ते सभोगी होय
ब्रह्मचारी तन न सोभवे, ते कल्पे नवि कोय
नवमी बाड़ कही ब्रह्मचर्य नी, हिव दसमों कहूं कोट
ते बाड़ दोली वींटी रह्यो तिण में मूल न चाले खोट
कोट भांग्यां जोखम है बाड़ ने, बाड़ भांग्यां व्रत ने जाण
तिणसूं कोट जिगण देवे नहीं ते जाणो चतुर सुजाण
सहर कोट सैंठो हुवे तरे चिंता न पामे लोक
ज्यूं अडग कोट ब्रह्मचर्य नो, तो शील न पामे शोक

नव बाड़ के बाद दसवां कोट है—"शब्द रूप गन्ध रस फरस, भला बुरा, हलका भारी, सरस। त्यांसूं राग द्वेष करणो नहीं, शील रहसी एहवा कोट मांहि।"

स्वामीजी कहते हैं "खेत गांव की सीमा पर होता है तो बाड़ किए बिना उसकी रक्षा नहीं हो सकती। बाड़ के बाद भी खाई करनी पड़ती है। इसी प्रकार ब्रह्मचारी जहां विहार करते हैं वहां जगह-जगह स्त्रियां रहती हैं इसलिए ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए बाड़ रूपी नौ नियम और कोट—खाई—रूप दसवें नियम का

पालन करना जरूरी होता है । चर्य के इन दस समाधि-स्थानों का जो लोप नहीं करता उसका व्रत अखण्डित रहता है और वह दिन-दिन चढते रङ्ग से वैरागी रहता है।" 'ब्रह्मचारी योगी यती, मत कर नारी प्रसग'—में कितना गंभीर उपदेश समाया हुआ है। 'पावक के साथ रहने से जैसे पावक लोहे को गला डालता है, उसी तरह एक शय्या पर बैठने से 'न रहे व्रत से रङ्ग'—व्रत में दृढ़ता नहीं रहती —कितने सावधान करते हैं ये शब्द। कठोर से कठोर हृदय के लिए भी एकासन पर बैठने में कितना खतरा रहा हुआ है, यह एक सुन्दर उदाहरण से बता दिया है। जो 'नारी-रूप नहीं निरखता वह मनुष्य नर जन्म को सफल-सार्थक करता है'—कितने सचोट वचन हैं। 'संयोगी'—शब्द कवि की अनोखी सृजन शक्ति का परिचय देता है और साथ ही बड़ा भावोत्पादक है। 'चचल मन मति डिगाय।" 'खाधो पियो विलसियो ते मति याद अगाय'-छट्ठी वाड़ की यह शब्द योजना कितनी सुन्दर और भावपूर्ण है। 'धातु दिपावे'-'सरस आहार धातु को दीप्त करता है'। सरस आहार से मीठे और स्निग्ध आहार का ही अर्थ लिया जाता है परन्तु 'खाटो खारो चरपरो मीठो भोजन जेह। विविधपने रस निपजै ते रसना सब रस लेइ' — इस में स्वामीजी ने बतलाया है कि इन सब रसों में जिसकी 'रसना वश नहीं' वह 'व्रत भाग भागल हुवे खोवे ब्रह्म व्रत सार'—व्रत भाग कर भागल हो जाता है और मूल्यवान ब्रह्मचर्य व्रत को खो डालता है'। अति आहार से 'घलै रूप बल आय' —'रूप, बल और आयुष्य क्षीण होती है—कितना सुन्दर वना है। जैसे हाँडी में 'अमाऊ ऊरातां'—शक्ति उपरात अन्न डालने से अन्न उबाल में आने पर हाडी फूट जाती है उसी तरह अधिक आहार से पेट फटने लगता है और विकार, प्रमाद, रोग, निद्रा, आलस और वषय विकार की वृद्धि हो कर ब्रह्मचर्य का नाश हो जाता है। यह दृष्टान्त कितना मौलिक और रोजमर्रा के जीवन से लिया हुआ होने से कितना सरस और हृदयग्राही है। भाषा कितनी वहती हुई और शब्द योजना कितनी सुन्दर है!

ब्रह्मचर्य पालन के लिए कवि ने अन्यत्र इस प्रकार प्रेरित की है

सुण्या तणो ओही सार रे, शील पाले नर जे सदा
पामे भव तणो पार रे, इण बात में शंका नहीं
ऐसो शील निधान रे, भव जीवां हितकर आदरो
ते निश्चै जासी निर्वाण रे, देवलोक में सांसो नहीं
षट् दर्शण रे मांह रे, शील अधिको बखाणियो
तप जप ए सहु जाय रे शील बिना एक पलक में
कितायक कीजे बखाण रे, शील व्रत में गुण घणा
जोवो सूत्र पुराण रे, शील सारा व्रतां सिरै

चन्द शब्दों में शील की महिमा—विशेषता कितने सुन्दर ढंग से दिखा दी है। 'शील षट् दर्शन की सामान्य वस्तु और सूत्र पुरान का सार है'। 'तप जप ए सहु जाय रे, शील बिना एक पलक में', 'शील सारा व्रतां सिरै', ऐसो शील निधान रे भव जीवां हित कर आदरो'–आदि कवि की आत्मा को उंडेल कर एक गहरी सजीवता उत्पन्न कर देते हैं।

उपसर्ग—विघ्न विपदा के समय ब्रह्मचारी का क्या कर्तव्य है—इस पर बड़े सुन्दर दोहे स्वामीजी ने दिये हैं:—

मन गमतो परिसो स्त्री तणो, सहणो घणो दुलभ।
मन दृढ परणामी पुरुषां ने, सहणो घणो सुलभ॥
गमतो अणगमतो हुवे, उपसर्ग उपजे आय।
सूर पुरुष सामां भड़े, कायर भागी जाय॥
समदृष्टि विवेक हुवे, पाले व्रत अभङ्ग।
ज्यूं-ज्यूं परिषा उपजै तिम तिम [चढते रङ्ग॥
वेरी से कारे पड्यां, भाग्यां भलो न होय।
पग रोपी सामो भ ड़े, तो गंज न सके कोय॥

जैसो गोलो मेण रो, तप लाग्यां गल जाय
कायर पुरुष स्त्री कन्हें, तुरत डिगे छिण मांय
जैसो गोलो गारको ज्यूं धमे ज्यूं लाल
ज्यूं शूर पुरुष स्त्री कन्हे अडिग रहे व्रत माल

"स्त्री का विघ्न अनुकूल—मनको रुचिकर होता है, अतः उसको सहना उसका पार पाना अत्यन्त कठिन होता है, परन्तु जो पुरुष दृढ मनवाले—दृढ़ परिणामों वाले होते हैं, उनके लिये तो यह अत्यन्त सरल बात है।

"अनकूल या प्रतिकूल उपसर्ग–सकट आ पड़ने पर शूर पुरुष सम्मुख मड जाते—झूझने लगते हैं और कायर पीठ दिखा कर भग जाते हैं।

"समदृष्टि जब संकटों से विवश हो जाता है तो व्रतों का अभग रूप से पालन करता है। जैसे जैसे परिषह वढते हैं वैसे-वैसे चढते अनुराग से वह व्रतों की रक्षा करता है।

"वैरी जब पीछे पड़ जाता है – तब पीठ दिखा कर भगने से भला नहीं होता। वैरी के सम्मुख पग रोप कर मड़ जाने से प्राण चले जाने पर भी, कोई गंजता नहीं–हल्की बात नहीं कहता।"

धर्म मार्ग मे भी शूरवीरता की कितनी आवश्यकता है— यह स्वामीजी ने उपरोक्त पदों मे बताया है। 'प्राण भले ही चले जाय धर्म न जाय'–इस दृढ़ भावना का बीजारोपण उपरोक्त पदों मे है। स्वामीजी ने कहा है 'कष्ट पड्या कायम रहै, ते साचेला शूर"—जो कष्ट पड़ने पर कायम रहते हैं वे ही सच्चे शूर हैं। जसे मोम का गोला ताप लगने से गल जाता है, उसी तरह कायर पुरुष स्त्रीके सम्मुख क्षण मात्रमें डिग जाता है। पर गार का गोला जैसे-जैसे धमाया जाता है, लाल होता जाता है। उसी तरह शूर पुरुष अपने व्रत को निभाता हुआ स्त्री के सम्मुख अडिग रहता है।

'कालवादी की चौपाई'—स्वामीजी की एक बड़ी ही उत्तम काव्य-रचना है। इसे पढ़ने से ऐसा लगता है, जैसे स्वामी जी कोई ज्ञानके उद्यान थे। ज्ञान की अद्भुत छटा, सत्यों का अद्भुत दोहन, अद्भुत गंभीर गिरा—शीतल मलय मरुत की शान्ति पहुंचाते हैं। स्वामीजी का 'तत्त्वज्ञान' इस रचना में पूरा-पूरा प्रगट हुआ है। इसके कुछ नमूने देखिए—

किण ही दो जणां चारित साथे लियो
समकाले छोड्या प्राण हो। भविकजन
काल सरीखो दोन्यांरा चारित्र तणो
पिण चारित्र गुण में फेर जाण हो॥ भविकजन
चारित्र तो जघन्य मध्यम उत्कृष्टो होय हो
ते तो चेतन गुण पर्याय हो। भविकजन
ते चारितावरणी कर्म दूरा हुवां
निज गुण प्रगट थाय हो॥ भविकजन
चारितावरणी चारत ने बिगाड़ियो
ओ बिगड़ियो निज गुण जाण हो। भविकजन
पर गुण आडो कर्म आवे नहीं
इणरी पिण करज्यो पिछाण हो॥ भविकजन

अर्थात्—"दो आदमी एक साथ चारित्र ग्रहण करते हैं और एक ही साथ प्राण छोड़ते हैं। इस प्रकार दोनों के चारित्र का काल तो समान होता है, पर चारित्र गुण में फेर हो सकता है। चारित्र न्यून, मध्यम और उत्कृष्ट होता है और वह जीव के चेतन गुण की पर्याय—उसकी अवस्था विशेष है। चारित्रावरणी कर्मके दूर होने से जितना २ निज गुण प्रगट होता है—चेतन का जितना-जितना स्फुरण होता है, वही चारित्र है।

"चारित्रावरणी कर्म चारित्र को बिगाड़ता है; जो बिगड़ता है—वह आत्मा का निजगुण—उसका चेतन भाव है। कर्म परगुण आत्मा के सिवा अन्य के गुण को नहीं ढकता। इसको अच्छी तरह पहिचानो।"

स्वामीजी के ये पद कितने चमत्कारिक हैं—यह पाठक स्वयं अनुभव करें। "परगुण आडो कर्म आवे नहीं"—यह कितना गूढ़ और अर्थ-गौरव-गंभीर है। यह एक आध्यात्मिक कवि की आत्मा ही अच्छी तरह समझ सकती है।

एक और उद्धरण इसी कृति से हम देते हैं :

निज गुण फिरे ने पर गुण झर पड़े,
ते पर गुण पुद्‌गल जाण हो। भविकजन
पर गुण झरिया निज गुण हुवै निर्मलो,
आ श्रद्धा घट में आण हो॥ भविकजन
अशुद्ध निज गुण फिरियां सुध निज गुण हुवै,
ते पर गुण कर दे दूर हो। भविकजन
शुद्ध निज गुण फिरिया अशुद्ध निज गुण हुवे,
तिण सू पर गुण लागे पूर हो॥ भविकजन
जे मैला निज गुण मोह कर्म वसे,
त्या निज गुणा स्यु पाप वधाय हो। भविकजन
मोह रहित निज गुण हुवै निर्मला,
त्या सूं परगुण दूर पलाय हो॥ भविकजन
सात कर्म सू निज गुण मेला हुवे,
त्या सू पाप न लागे ताम हो। भविकजन
ते करम झर्‌या हुवे निज गुण निर्मला,
त्यारा गुणा निरन छै नाम हो॥ भविकजन

आठ कर्म उदय हुवा नीपजे
निज गुण उदय भाव अनेक हो। भविकजन
आठ कर्मां ने क्षय कीधां नीपना
निज गुण क्षायक भाव विशेष हो ॥ भविकजन
च्यार कर्म क्षय उपसम कीधां नीपजे
निज गुण क्षय उपसम भाव हो। भविकजन
मोह कर्म उपसमियां प्रगटे,
निज गुण उपसम भाव हो ॥ भविकजन
ये च्यारू ही भाव परिणामिक जीव छे,
ते चेतन निज गुण पर्याय हो। भविकजन
ए भाव फिरे पिण द्रव्य फिरे नहीं,
ते पिण सुणज्यो न्याय हो। भविकजन
तत्व शुद्ध सरध्यां हुवे जीव समकिती,
ऊंधा सरध्यां मिथ्याती थाय हो। भविकजन
ओहिज ज्ञानी रो अज्ञानी हुवे
अज्ञानी रो ज्ञानी हो जाय हो ॥ भविकजन
नारकी ने देवता रो मिनख तिर्यच हुवे
मिनख तिर्यचनो देव थाय हो। भविकजन
इत्यादिक जीवरा भाव अनेक छे,
ते और रो और होय जाय हो ॥ भविकजन
सासतो जीव द्रव्य छे अनाद रो,
तिणरी प्रज्या अनंत जाण हो। भविकजन
ते प्रज्या हाण विरध हुवे कर्मां सूं,
पिण द्रव्यरी नहीं विरध हाण हो ॥ भविकजन

जे भाव फिरे पिण द्रव्य फिरे नहीं,
त्यां भावांरा भेद अनेक हो । भविकजन
ते भाव निश्चै ही जाणो असासता
ते सरधो आण विवेक हो ॥ भविकजन
द्रवे सासतो ने भावे असासतो ।
जीव ने कह्यो जिण राय हो । भविकजन
ते सूत्र भगोती रे सत खध सात में
दूजा उदेशा माहि हो ॥ भविकजन
भावे जीवने कह्यो असासतो
ते तो प्रज्या पलटे जाण हो । भविकजन
द्रवे जीवने सासतो कह्यो
जीवरो अजीव न थाय हो ॥ भविकजन

अर्थात्‌ः " निज गुण की स्फुर्णा होने से परगुण—आत्म-प्रदेशों से झड़ते हैं। ये परगुण और कुछ नहीं पुद्‌गल कर्म हैं। परगुण के दूर होने से निजगुण निर्मल होते हैं। यह श्रद्धा हमेशा घट में रखो।

"अशुद्ध निजगुणों के हटने से निजगुण शुद्ध हो जाते हैं और निजगुण पर गुण—पुद्‌गल को आत्म-प्रदेशों से दूर कर देते हैं। शुद्ध निजगुग के पलटने से निजगुण अशुद्ध हो जाते हैं जिससे परगुण प्रचुर मात्रा में लगते हैं।

"मोह कर्म के उदय से जो मेले निजगुग हैं उनसे पाप कर्म का बंध होता है। मोह रहित अवस्था में निजगुण निर्मल हो जाते हैं, जिससे परगुण पलायमान हो जाते हैं।

"सात कर्म से निजगुण मेले होते हैं, पर उनसे पाप नहीं लगता। मोह कर्म से पाप लगते हैं। इन सात कर्म के झड़ने से निजगुण निर्मल होते हैं। सातों ही कर्मों के नाम उनके गुणों के द्योतक हैं।

'आठ कर्मों के उदय से अनेक निजगुण रूपी भावों का उदय होता है और उनके क्षय से क्षायक भावों की उत्पत्ति होती है।

"चार कर्मों के क्षय-उपसम से निजगुण रूपी क्षय उपसम भावों का उदय होता है। मोह कर्म के उपसम से निजगुण रूपी उपसम भाव होता है

"ये चारों ही भाव—उदय उपसम क्षायक, क्षयोपसम—परिणामिक हैं। ये जीव के परिणाम हैं। चैतन्य भाव जीव का निजगुण है और ये उसी की पर्याय हैं। ये भाव जीव फिर जाते हैं पर द्रव्य जीव फिरते नहीं। उसका भी न्याय सुनो।

"तत्त्वों को शुद्ध समझने से जीव सम्यक्त्वी होता है, उल्टा श्रद्धने पर वही जीव मिथ्यात्वी हो जाता है। वही जीव ज्ञानी का अज्ञानी हो जाता है और अज्ञानी का ज्ञानी।

'नारकी और देवता का जीव मनुष्य और तिर्यच हो जाता है और मनुष्य तिर्यच का जीव देव हो जाता है। ऐसे ही जीव के अनेक भाव हैं। वह कुछ-का कुछ हो जाता है।

"जीव अनादि और शाश्वत द्रव्य है। उसकी पर्यायें अनन्त हैं। कर्म के संयोग से इन पर्यायों की हानि वृद्धि होती है परन्तु द्रव्य की हानि वृद्धि नहीं होती।

'जीव के भाव—पर्यायें फिरती हैं पर द्रव्य नहीं फिरता। इन भावों के अनेक भेद हैं। ये भाव निश्चय ही अशाश्वत हैं। विवेक पूर्वक इस बात पर श्रद्धा लाओ।"

"जीव द्रव्यत' शाश्वत है और भावत' अशाश्वत है। ऐसा जिन-भगवान ने भगवती सूत्र के ७ वें श्रुतस्कंध में कहा है। भाव जीव को अशाश्वत इस कारण कहा है कि उसकी पर्याय पलटती रहती है और द्रव्य जीव को शाश्वत इसलिए कहा है कि जीव कभी अजीव नहीं होता।"

द्रव्य जीव और भाव जीव का कितना सुन्दर बोध इस ढाल में भरा हुआ है। निजगुणों के निर्मल होने से परगुण दूर पलाय हो' कितना सुन्दर बना है। 'ते भव्या हाण विरध हुवे कर्म सू, पिण द्रव्य को नहीं हाण विरध हो' इस एक पद

में 'उत्पाद व्यय ध्रौव्य'के सिद्धान्त का सार भर दिया है। चेतन जीव, जड़ पुद्गल को कैसे ग्रहण करता है—इसका गंभीर विवेचन उपरोक्त अवतरण में है। स्वामीजी की रचनाएं इसी तरह अद्भुत आत्मज्ञान से भरी हुई हैं।

एक ढाल में कुगुरु-संगत का दुष्परिणाम बतलाते हुए आरम्भ के दोहे में कहा गया है : "ताल पुट विष को खाने से उसी समय जीवन का अंत हो जाता है परन्तु यदि कोई कुगुरु को गुरु कर लेता है तो अनेक जन्म जन्मान्तर तक चारों गतियों में भ्रमण करता है।" इस ढाल में कुगुरु पर एक बड़ा सुन्दर दृष्टान्त है। पाठक इसका रसास्वादन करें :

जाजम बिछाई कुवा ऊपरे
चिहुं कांने रे मेल्या ऊपर भार।
भोला बेसे तिण ऊपरे
ते डूबे मरे रे तिण कुवा मझार॥
जिम कुगुरु छै कुवा सारीखा
जाजम सम रे कीधो साधु रो भेष।
त्यांने गुरु करे वंदणा करे
ते डूबे रे मूरख अध अंधेख॥
कुगुरु सरधुं ना आरसा
त्यांरी श्रद्धा हो खोटी भाड़ समान।
भारी कर्मां जीव तिणस्या मारया
त्यांने भोग्य हो खोटी सरधा में प्राण॥

अर्थात : "एक जाजम के चारों कोनों पर भार रख, यदि एक कुंए को ढंक दिया जाय और उस पर कोई मूर्ख आ बैठे तो वह डूब मरेगा या नहीं? कुगुरु कुए के सदृश हैं। उनके पास साधुओं का वेष है, वह जाजम की तरह है। उनके वेष को

देख, जो उन्हें सच्चा गुरु समझ वन्दना करता है वह स्थिति का नहीं देखनेवाला मूर्ख और अन्ध पुरुष भवभव में डूबता है।'

स्वामीजी का कुगुरु पर यह दृष्टान्त कितना सुन्दर और मौलिक है! वेष से कोई साधु नहीं होता, गुण से होता है। जाजम से ढका हुआ कुवा भी कुवा ही रहेगा। उस पर बैठने वाले की मृत्यु होगी। उसी तरह कुगुरु की संगत करने वाला डूब मरेगा। सत्संगति की ओर मोड़ने वाला यह दृष्टान्त कितना उद्बोधक है, यह पाठक स्वयं ही अनुभव करते होंगे।

कुगुरु पर दूसरा दृष्टान्त भड़भूजे का है। जो राजस्थान के ग्रामीण-जीवन से परिचित हैं, उन्हें यह दृष्टान्त बड़ा ही फबता लगेगा।

'कुगुरु भड़भूजे के सामान हैं और उसकी श्रद्धा भाड़ के समान खोटी है। कर्मों से भारी हुए जीव घास-फूस के समान हैं जिनको कि कुगुरु खोटी श्रद्धा रूपी भाड़ में झोंका करते हैं।"

'बारह व्रत की चौपाई' भी गीतिकाव्य का उत्कृष्ट नमूना है। स्वामीजी ने इस रचना में श्रावक के बारह व्रतों का विवेचन इतने सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के साथ किया है कि पढ़ने वाले को आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है। इस रचना के दोहे भी बड़े सारगर्भित और अर्थ-गौरव गंभीर हैं। सरल भाषा, गम्भीर स्पष्टीकरण और वैज्ञानिक विश्लेषण शैली के कारण यह रचना इस विषय की रचनाओं में प्रमुख स्थान प्राप्त करे ऐसी है।

इस रचना के कुछ दोहे पाठकों की जानकारी के लिए नीचे देते हैं। दूसरे से पांचवें व्रत के आरंभ के दोहे इस प्रकार हैं

दूजो व्रत श्रावक तणो, करे झूठ परिमाण।
त्यागे मोटो जाण ने पाले जिनवर आण॥
झूठ बोला मानवी नहीं ज्यांरी परतीत।
मिनख जमारो हारने, मरकों होय फजीत॥

तीजो व्रत श्रावक तणो, करे अदत्तरा त्याग ।
मन में समता आण ने, चोढे भाव वैराग ॥
इहलोके जस अति घणो, परलोके पाय ।
भाव सहित आराधियां, जनम-मरण मिट जाय ॥
चोरी करे ते मानवी, गया जमारो हार ।
मिनख तणो भव खोयने, नरका खावे मार ॥
मनुष्य तणो भव पाय ने, जे नर पाले शील ।
शिव रमणी बेगा वरे, करे मुक्ति में कील ॥
साधु त्यागे सर्वथा, गृहचारी पर नार ।
माठी नजर जोवे नहीं, तिणरो खेवो पार ॥
केइक मानव एहवा, आणे मन वैराग ।
भोग जाणे विष सारखा, घर नारी दे त्याग ॥
पाचवें व्रत त्यागे परिग्रह, ते परिग्रह हो मूर्छा जाण ।
तिण सूं निरन्तर जीव रे, पाप लागे छै आण ॥
ए मोटो पाप छै परिग्रहो, तिण थी गोता खाय ।
सातो हुवे तो देखल्यो, तीन मनोरथ माय ॥
ए अनर्थ ज्ञानी भाखियो, नरक ले जावे ताण ।
यती मार्ग नूं भजणो, निषेध कियो इम जाण ॥
खेत्त वत्थु हिरण सुवर्ण तणो, धन धान वलि जाण ।
द्विपद ने चौपद तणो, कुम्भी धातु तणो प्रमाण ॥
खेत उघाड़ो भूमिका, वत्थू हाट हवेली जाण ।
रुपा ने सोना तणो, करे शक्ति सारू पच्चखाण ॥
सचित्त अचित्त मिश्र द्रव्य छै, या सगलांरो करे प्रमाण ।
मूर्छा ते अभितर परिग्रहो, तिण सू पाप लागे छै आण ॥

बारम परिग्रहो नवजात रो, ममता करि मह्यो छे ताण।
तिण सूं मांने परिग्रह कह्यो, तिण थी पाप लागे छे आण॥

पाठक देखें कि इन दोहों में एक भी शब्द भरती का या निरर्थक नहीं। दोहों में भी एक सुन्दर सुमधुर तान है। "माठो निजर जोवे नहीं तिणरो खेवो पार," यह पद तो रात-दिन रटने जैसा है। 'झूठा बोल्या मानवी, नहीं ज्यांरी परतीत' 'चोरी करे ते मानवी गया जमारो हार' 'भोग जाणे विष सारखा घर नारी दे त्याग' 'ते परिग्रहो मूर्छा जाण' 'यति भावनो भंजणो नरक लेजावे ताण'—आदि केवल सुन्दर उपदेश-पद ही नहीं हैं पर उनमें शांत काव्य का अमी-रस भरा पड़ा है। पढ़ने से ही भावनाएं निर्मल होती हैं और मन वैराग्य की ओर झुक कर संवेग रस में झूलने लगता है। भाव और भाषा दोनों पर कवि का समान अधिकार उसके कलाकार का सुन्दर परिचय देता है।

अणुव्रत और गुणव्रत का सम्बन्ध, इस रचना के दोहों में इतने सुन्दर और स्पष्ट रूप से बतलाया गया है कि उन्हें यहां देने का लोभ संवरण नहीं होता

पांच अणुव्रत धारतां मोटी बांधी पाल।
छोटा री अव्रत रही, ते पाप आवे दगचाल॥
तिण अव्रत ने मेटवा भणी पहलो गुण व्रत देख।
दिशि मर्यादा मांड ने टाले पाप विशेष॥
भोगिलो अव्रत मेटवा, दूजो गुण व्रत धार।
द्रव्यादिक त्यागन करे भोगादिक परिहार॥
जे द्रव्यादिक राखिया, जेहनो अव्रत जाण।
अर्थ दण्ड छूटे नहीं, अनर्थ दण्ड पचखाण॥

'पांचों व्रतों को धारण करते ही स्थूल हिंसादि पापों से विरति रूप बड़ी पाल बांध दी जाती है फिर भी सूक्ष्म हिंसादि पापों से अविरति रहने से कर्म रूपी जल बेरोक-टोक आता रहता है।

इस अविरति को मिटाने के लिए पहले गुण व्रत का विधान है। इस गुण व्रत में दिशि मर्यादा कर, उसके बाहर सूक्ष्म पापों से विशेष रूप से निवृत हुआ जाता है।

मर्यादा कृत क्षेत्र में जो सूक्ष्म अविरति रह जाती है उसको मिटाने के लिए दूसरा गुणव्रत—उपभोग परिभोग परिमाण—धारण करना होता है। इस गुणव्रत में द्रव्यादिक का त्याग और भोगादिक का परिहार करना पड़ता है।

मर्यादित क्षेत्र में जो मर्यादित वस्तुओं के सेवन की छूट रख ली जाती है। वह भी अविरति है। इस अविरति को संक्षिप्त करने के लिए अनर्थ दण्ड त्याग अर्थात् बिना प्रयोजन पाप कर्म करने का त्याग किया जाता है और केवल प्रयोजन से पाप की छूट रह जाती है।"

अणुव्रत और गुणव्रतों के परस्पर सम्बन्ध का इतना हृदयग्राही विवेचन अन्यत्र दुर्लभ है।

अब हम गुणव्रतों के दोहे देते हैं :

छट्ठो व्रत श्रावक तणो, करे दिशा रणो परमाण।
हिंसादिक त्यागे छऊं दिशा तणी, मन मांहि समता आण॥
सातमो व्रत श्रावक तणो, तिण में भोग उपभोगना त्याग।
गमती वस्तु त्यागे छे तेह ने, आवे अधिको वैराग॥
भोग आवे एकवार में, ते कहिए उपभोग।
वारंवार भोग आवे जीवने, तिण ने कह्यो छै परिभोग॥
उपभोग परिभोग त्याग्या विना, अव्रत में कह्यो भगवान।
त्या रो त्याग करे सत्गुरु कने, ते सातमो व्रत प्रधान॥
उपभोग परिभोग काम छै, भोग महा दुःख खान।
किम्पाक फलनी दिधी उपमा, भगवत श्री वर्द्धमान॥

अर्थ ते मतलब आपरे सावद्य करे विविध प्रकार ।
अनर्थ ते मतलब बिना, पाप करता पिण करे न मूल विचार ॥
पाप करे अर्थ अनर्थ कारणे, त्यां ने कह्यो रीत पिछाण ।
अनर्थ दण्ड छोड़णो दोहिलो पिण अनर्थ रा करे पचखाण ॥

अब हम शिक्षा व्रत के दोहे देते हैं

पांच अणुव्रत पालसी गुणव्रत देस कहाय ।
शिक्षा व्रत च्यारूं चौकड़ी कहिए उपमा ताय ॥
जिम देवल कलशी चढ़े, मुकुट मस्तक अन्त ।
इम समदृष्टि जीवड़ा, शिक्षा व्रत पालंत ॥
व्रत आठूं ई पहला कह्या, जाव जीव लग जाण ।
शिक्षा व्रत च्यारूं तणा, विविध पगे पच्चक्खाण ॥
सामायक महुरत एकनी, जो करे चित लाय ।
देसावगासी व्रत ना जेम करे तिम थाय ॥
पोषो हुवे दिन रात रो, जो ध्यावे निर्मल ध्यान ।
ग्यारमों व्रत शुभ साधने, प्रतिकाम्यो थी थाय ॥
अतिथि संविभाग चौथो शिक्षा, ते बारमो व्रत रसाल ।
समण निर्ग्रन्थ अणगार ने, दान देवे दयाल ॥
ते फासु अचित्त ने सूझतो, कल्पे ते द्रव्य अनेक ।
कल्पे ते खेतर काल में, दान दे आण विवेक ॥
जो उ दान दे मुगत रे कारणे और वंछा नहिं काय ।
जब निपजै व्रत बारमो, इम भाख्यो जिन राय ॥
इग्यारा व्रत वध आपरे, मन माने जब निपजाय ।
बारमो व्रत शुद्ध साधने, प्रतिकाम्यो स थाय ॥

लाखां कोडा खरचिया, जीव अनन्ती बार।
पिण दान सुपात दोहिलो, ते जीन तणो आधार॥
ए व्रत निपावा कारणे, उद्यम करे नितमेम।
भावे साधांरी भावना, हाथे दान देवा सुं प्रेम॥

एक में स्वामीजी ने व्रत भग करने के दोष पर विचार किया है। इस ढाल के कई पद सदा ध्यान में रखने योग्य हैं। हम उन्हें यहां देते हैं :

छोटो मोटो सुंस व्रत आदरो तो,
पालज्यो रूढी रीत।
ते सुंस भांगने भिष्ट हुवा ते,
चिहुँ गत में होसी फजीत रे॥ भ०॥ *
छोटोई सुंस भांगे छे तिण में,
हवाल पड़े छे अनन्त।
तो मोटो सुस भागे छे तिणरो
होसी कुण विरतत रे॥ भ०॥
हिंसा झूठ चोरी ने मैथुन परिग्रहो,
त्यांने त्यागे छै आण वैरागो।
त्यारा त्याग जाणने भांगे
तिणरो छे पूरो अभागो रे॥ भ०॥
करड़ा करड़ा सुंस किया
त्याने भाग करे चकचूर।
ते वूड़ा छै बापड़ा जीव अज्ञानी
ते पड़ गया मुगत सुं दूर रे॥ भ०॥

---

*भवियण सुंस म भांगो लिगारि
सुस भाग्या सुं घणी खुवारी रे।
भ० टांको भले तो अनन्त ससारो

मत भांग ने भागल हुवो तिण
रियो जीतब जन्म बिगाड़।
नर्का तणा पाहुणा होय बैठा
गया जमारो हार रे॥ भ०॥
सुख तणा भागल छै त्याने
जश कठे नहीं होय।
दुख भोगवता नर्क में निरन्तर
त्यां सुख नो संचार नहीं कोय रे॥ भ०॥
सुखां रो भागल संसार मांहे रुले तो
उत्कृष्टो अनन्तो काल।
वे तो नर्क निगोद में भीका खासी
तिणरो बेगो न आवे निकाल रे॥ भ०॥
इह लोग में पिण फिट फिट होवे
सुख व्रत नो भागण हार।
मस्तक नीचा घाले लोकां में
तिण ने सहु कोई देवे धिक्कार रे॥
लज्जा रहित निरलजा मानव
सुख मांगता मूल न लाजे रे।
तिण ने परलोक री परवाह नहीं दिसे
विकार पाड़ गीदड़ जिम भागे रे॥
पाप करे तिण ने पापी कहीजे
पाप्यां तणी पांत मांही।
पिण सुख भांगे ते महा पापी छे
महा पापी तणी पांत मांही रे॥

जातवत लज्यावत कुलवंत तिणरो,
जोगे गयो व्रत भागो।
ते परभव ने लौकिक सु डरतो,
पाछो उठ खड़ो रहे जागी रे॥
भागल होय ने पाछा उठ्या अनन्ता
टाल्या आत्मा ना सर्व दोष।
सुंस भांग ते पाछा सन्ताप सुं
उण हिज भव पहुंता मोक्ष रे॥
सुंस भाग नें भागल भिष्ट हुवे तो
धर्म सूं होय गया रीतो।
काल कियो आलोया पडिकमिया विण,
तिण में भव-भव में होसी कुपोतो रे॥

उपरोक्त पदों में स्वामीजी ने कहा है कि हिंसादि पापों का जो आचरण करता है, वह पापी हो कहलायेगा पर जो हिंसा आदि पापों के त्याग स्वरूप अहिंसादि महाव्रतों को ग्रहण कर, उनका पालन नहीं करता वह महापापी की कोटि में आता है। सम्भव है कि कर्म योग से कभी मनुष्य अपने व्रत से गिर जायं पर जो जाति-वन्त, कुलवन्त होता है वह फिर सजग हो, उठ खड़ा होता है और आत्म-सन्ताप से आत्म-शुद्धि कर, अपने मुमुक्ष भाव को जाग्रत रखता है। स्वामीजी ने व्रत भग के दुर्गतिकारक परिणामों का रोमाञ्चकारी दृश्य खींच, "प्राण जाय पर प्रण न जाहि"—की भावना का चिरस्थायी उपदेश दिया है।

विनय को भगवान महावीर ने धर्म का मूल कहा है। विनय के सम्बन्ध में स्वामीजी कहते हैं :

विनय मूल धर्म जिन कह्यो ते जाणे विरला जीव
ते सतगुरु रो विनय करे त्यां दीधी मुक्ति री नींव

जो कुगुरु तणो विनय करे सो किम उतरे भव पार
ज्यां सुगुरु-कुगुरु नवि ओलख्या ते गया जमारो हार
कई अज्ञानी इम कहे गुरु ने बाप एक होय
भूंडा भला ते गुरु कह्या, त्यां ने नवि छोड़णा कोय
जिण आगम मांहि इम कह्यो गुरु करणा गुण देख
खोटा गुरु ने नवि सेवणा, त्यांरी कीमत करणी विशेष
खोटो नाणो न सांतरो, एकण झोली मांय
ते भोला रे हाथे दियो जुओ कियो किम जाय
जिणरी बुद्ध छै निर्मली ते देखे दोनां री चाल
कुगुरां ने न्हाके करे साध वांदे पग न्हाल

जिन भगवान ने विनय को धर्म का मूल कहा है'—ऐसा सब कोई कहते हैं पर इसके रहस्य को बिरले ही समझते हैं। भगवान के वचनों का रहस्य यह है कि जो सत्‌गुरु का विनय करता है वही मुक्ति की नींव डालता है।

जो असत् गुरु का विनय करता है वह किस तरह इस भव का पार पा सकता है? जो सत्-असत् गुरु की पहचान नहीं करता वह मनुष्य-अवतार को यों ही गंवाता है। कई अज्ञानी ऐसा कहते हैं कि बाप और गुरु एक समान होते हैं अच्छा और बुरा क्या जिसे एक बार मुख से गुरु कह दिया उसे नहीं छोड़ना चाहिये।

पर यह बात न्यायोचित नहीं है, क्योंकि जिन आगम में ऐसा कहा है कि गुण देखकर गुरु करना चाहिये। कुगुरु की संगत नहीं करनी चाहिये। गुरु-अगुरु की विशेष परिक्षा करनी चाहिये।

खोटा और खरा सिक्का एक झोली में डालकर मूर्ख के हाथ में देने से वह उन्हें खरा कस कर सकता है? जैसे ही एक वेष में रहने वाले साधु-असाधु की परीक्षा अज्ञानी से नहीं हो सकती।

जिसकी वुद्धि निर्मल होती है वह रुपयों की आवाज से उनकी परख करता है। उसी तरह विचक्षण पुरुष चाल—आचार—विचार—देख कर गुरु-कुगुरु का निर्णय करते हैं और इस तरह परिक्षा से कुगुरुओं को दूर कर सत्पुरुषों की चरण-सेवा करते हैं।

रुपये की परीक्षा आवाज से होती है और साधु की परिक्षा चाल से। कितना सुन्दर वोध कितने सरल दृष्टान्त से दिया है! 'चाल' शब्द कितना भावपूर्ण और अर्थ-गौरव को लिए हुए है! आचार-विचार—दर्शन-चारित्र दोनों की भावना को उपस्थित कर यह शब्द कितना अभिव्यक्तिशील हो उठा है

इसी विषय पर विचार करते हुए एक जगह कहा है :—

नील ठांच कीडा चुगेजी
माँहि विराजे राम।
गुरु करणी रो कारण को नहिं
म्हारे दर्शन सूं हिज काम॥
चतुर नर छोड़ो कुगुरु

नील टांच कीडा चुगेजी
तिणरे दया नहीं घट मांहिं।
पापी रो मुख देखतां जी
भलो कठा सुं थाय॥
चतुर नर छोड़ो कुगुरु संग

गुण लारे पूजा कही जी
तोहि निगुण पूजता जाय।
चोड़े भूल्या मानवी जी
त्यांने किम आंणीजे ठांय॥
चतुर नर छोड़ो कुगुरु संग

जो कुगुरु तणो विनय करे सो किम उतरे भव पार
ज्यां सुगुरु-कुगुरु नवि ओलख्या ते गया जमारो हार
कई अज्ञानी इम कहे गुरु ने बाप एक होय
भूंडा भला ते गुरु कह्या त्यां ने नवि छोड़ना कोय
जिण आगम मांहि इम कह्यो गुरु करणा गुण देख
खोटा गुरु ने नवि सेवणा, त्यांरी कीमत करणी विशेष
खोटो नाणो न सांतरो, एकण ओली मांय
ते भोलां रे हाथे दियो जुदो कियो किम जाय
जिणरी बुद्ध छै निर्मली ते देखे दोनां री चाल
कुगुरां न भाके करे, साध नहिं पग म्हाल

'जिन भगवान ने विनय को धर्म का मूल कहा है'—ऐसा सब कोई कहते हैं पर इसके रहस्य को विरले ही समझते हैं। भगवान के वचनों का रहस्य यह है कि जो सत्गुरु का विनय करता है वही मुक्ति की नींव डालता है।

जो असत् गुरु का विनय करता है वह किस तरह इस भव का पार पा सकता है? जो सत्-असत् गुरु की पहचान नहीं करता वह मनुष्य-अवतार को यों ही गवांता है। कई अज्ञानी ऐसा कहते हैं कि बाप और गुरु एक समान होते हैं; अच्छा और बुरा क्या जिसे एक बार मुख से गुरु कह दिया उसे नहीं छोड़ना चाहिये।

पर यह बात न्यायोचित नहीं है, क्योंकि जिन आगम में ऐसा कहा है कि गुण देखकर गुरु करना चाहिये। कुगुरु की संगत नहीं करनी चाहिये। गुरु-अगुरु की विशेष परिक्षा करनी चाहिये।

खोटा और खरा सिक्का एक झोली में डालकर मूर्ख के हाथ में देने से वह उन्हें जुदा कैसे कर सकता है? वैसे ही एक वेष में रहने वाले साधु-असाधु की परीक्षा अज्ञानी से नहीं हो सकती।

जिसकी बुद्धि निर्मल होती है वह रुपयों की आवाज से उनकी परख करता है। उसी तरह विचक्षण पुरुष चाल—आचार—विचार—देख कर गुरु-कुगुरु का निर्णय करते हैं और इस तरह परिक्षा से कुगुरुओं को दूर कर सत्पुरुषों की चरण-सेवा करते हैं।

रुपये की परीक्षा आवाज से होती है और साधु की परिक्षा चाल से। कितना सुन्दर बोध कितने सरल दृष्टान्त से दिया है! 'चाल' शब्द कितना भावपूर्ण और अर्थ-गौरव को लिए हुए है। आचार-विचार—दर्शन-चारित्र दोनों की भावना को उपस्थित कर यह शब्द कितना अभिव्यक्तिशील हो उठा है

इसी विषय पर विचार करते हुए एक जगह कहा है :—

नील ठांच कीड़ा चुगेजी
माांहि विराजे राम।
गुरु करणी रो कारण को नहिं
म्हारे दर्शन सूं हिज ॥
चतुर नर छोड़ो कुगुरु संग

नील टांच कीडा चुगेजी
तिणरे दया नहीं घट मांहिं।
पापी रो मुख देखतां जी
भलो कठा सुं थाय॥
चतुर नर छोड़ो कुगुरु संग
गुण लारे पूजा कही जी
तोहि निगुण पूजता जाय।
चोड़े भूल्या मानवी जी
त्यांने किम आंणीजे ठांय॥
चतुर नर छोड़ो कुगुरु संग

जो भ्रष्ट—आचार-विचार से गिरे हुए—गुरु होते हैं, उन्हें तुरन्त छिटका देना—दूर कर देना चाहिए।"

'चोड़े भूल्या मानवीजी त्यांने किम आणी जे ठाय'—में कितनी गहरी हृदयवेदना छिपी हुई है। 'गुण लारे पूजा कही तोहि निगुण पूजता जाय'—में कितना तीव्र पर मधुर व्यंग है! निर्गुण गुरुपूजा का हृदयग्राही सुन्दर खण्डन, कवि की अनोखी सूझ, गहरे अनुभव और सदाचार के प्रति उनके हृदय में रही हुई महान् प्रतिष्ठा का मनोहर दृश्य उपस्थित करता है। नील टॉच के हृमय में राम को मानकर उस के दर्शन में धर्म मानने की मिथ्या मान्यता का सहेतु खण्डन स्वामीजी के प्रबल बुद्धिवादीहोने का ज्वलंत उदाहरण है। सोने की छुरी का दृष्टान्त मौलिक होने के साथसाथ अत्यन्त रोचक और चित्ताकर्षक है। इसी विषय की एक ढाल के कुछ पद हम यहाँ और देते हैं, क गाकर देखें—उनमे कितनी सुमधुर तान, कितना प्रासाद रस, भावों की कितनी उड़ान और अनुभव की कितनी गहरी पुट है! स्वामीजो कहते हैं :

सुध साधां पे घर छोड़ी सूतर भणे रे
आचार सरधा में देखे चूक रे
तो कांण न राखे चला गुर तणी रे
खोटा जाणी ने जावे मूक रे
अजाणपणे कुगुरु ने गुरु करे रे
ठीक पडीयां छोड़े ततकाल, रे
त्यागी वयरागी त्यां ने जिण कह्या रे
सांहसी हुवे सो सूतर संभाल रे
साधां मांह सुं नीकल भागल हुवे रे
केइ भागल छोड़ी ने होवे साध रे
थोहरा घणं रो कारण को नहीं रे
सुध सरधा थी पांमे सदा समाध रे

तरह के अनेक अमोलक जीवन-सूत्र दिए हैं जो साधुओं के ही नहीं परन्तु श्रावकों के जीवन को भी अत्यन्त महान् बना सकते हैं।

स्वामीजी ने एक स्थान पर कुनारी-स्वभाव का चित्रण किया है। स्वामीजी कहते हैं कि 'सती' 'कुसती' में एक 'कु' का अन्तर होता है परन्तु यह अन्तर इतना बड़ा होता है कि सति 'शीलगुण' की खान होती है और कुसती अवगुण की। सती सीता के सारखी होती है जिसका वर्णन जिनेश्वर भी करते हैं और कुसती कपिला सारखी जो कुल को कलङ्कित करती है। इतनी भूमिका बांधने के बाद प्रसंग वश कुसती का स्वभाव चि करते हुए लिखते हैं

नारी कूड़ कपट नी कोथली, अवगुण नो भ डार। भ० च० ॥
कलह करवा ने सातरी भेद पड़ावनहार। भ० च०
देहली चढ़ती डिग पड़े चढ़ आवे ड्रगर असमान। भ० च०
घर में बैठी डर करे, रावे जाय मसाण। भ० च०
देख बिलाई ओदके सिंघ ने सन्मुख जाय। भ० च०
साप वसीसे दे सोवे ऊ दर स्यु भिड़काय। भ० च०
कोयल मोर वनी परे बोले मीठा बोल। भ० च०
भीतर कड़वो कुक-सी बाहिर करे किलोल। भ० च०
खिण रोवे खिण में हँसे खिण मुख पावे सूख। भ० च०
खिण राचे विरचे खिणे खिण दाता खिण सूम। भ० च०
[illegible] करतां [illegible] करे ऐसी नार अलाम। भ० च०
[illegible] नचावे निज कंथ ने, जाणेक असल गुलाम। भ० च०
[illegible] कोठड़ी प वेहु एकज रङ्ग। भ० च०
[illegible] करे नारी करे शील भ ग। भ० च०
[illegible] दोनू एक स्वभाव। भ० च०
तिण स्यु वेहू लगा ज्वाव। भ० च०

भृग ज्युं परिहा छे कूट जाल में रे
चारित लेने करे अहंकार रे
ते भमण करसी गाढ़ा दुखिया घणा रे
भवकूट सहसार मझार रे
पूंजा सलाघा ऊंचा गोत ने रे
पाया जीव अनंती वार रे
वयरागे घर छोड़ी संजम लीयं रे
गर्व छोड़े तो खेवो पार रे

अर्थात् : "जो अत्यन्त क्रोधी होते हैं, अप्रिय वचन बोलते रहते हैं और शांत कलह को करने के लिए तैयार रहते हैं—ऐसे साधु क्षमा के मार्ग को छोड़ कर उजड़ पड़ गये हैं—भटक गये हैं और इस संसार—अटवी में दुःख पायेंगे।

'भेष धारण कर कइ ऐसे हल्के वचन कहते हैं कि हमारी तरह ज्ञान का भण्डार कौन है ? हम जीवादि नव तत्वों का सूक्ष्म निर्णय करते हैं एवं तपस्वी अणगार हैं।

"जो दूसरे शुद्ध साधु श्रावकों को बिम्ब मात्र—आकार मात्र समझते हैं —जो साधु वेषमें भी ऐसे अहकारी हैं उन्होंने नरक जाने की साई दे दी है।

"जो चरित्र ग्रहण करके भी अहंकार करते हैं वे मृग की तरह कूट पास में फंस, गाढ़ दुःख पाते है और कूट जन्म-जन्मान्तर रूप संसार में भ्रमण करते हैं

"पूजा— सत्कार, श्लाघा, उच्च गोत्र—इन्हें जीव अनन्त बार प्राप्त कर चुका वैराग्य पूर्वक घर छोड़, सयम लेने के बाद जो गर्व छोड़ता है, उसका खेवापार होता है।"

क्रोध और अभिमान को हटा, क्षमा और मार्दव के मार्ग को ग्रहण करने का उपदेश कितना सरस और श्रेयस है। 'गर्व छोड़े तो खेवो पार रे—इस छोटे से वाक्य में कितना सुन्दर जीवन-सूत्र है ! स्वामीजी ने अपने लोक-काव्यों में इसी

तरह के अनेक अमोलक जीवन सूत्र दिए हैं जो साधुओं के ही नहीं परन्तु श्रावकों के जीवन को भी अत्यन्त महान् बना सकते हैं।

स्वामीजी ने एक स्थान पर कुनारी स्वभाव का चित्रण किया है। स्वामीजी कहते हैं कि 'सती' 'कुसती' में एक 'कु' का अन्तर होता है परन्तु यह अन्तर इतना बड़ा होता है कि सति 'शीलगुण की खान होती है और कुसती अवगुण की। सती सीता के सारखी होती है जिसका वर्णन जिनश्वर भी करते हैं और कुसती कपिला सारखी जो कुल को कलङ्कित करता है। इतनी भूमिका बाधने के बाद प्रसंग वश कुसती का स्वभाव चि करते हुए लिखते हैं

नारी कूड़ कपट नी कोथली, अवगुण नो भ डार। भ० च० *
कलह कदा ने सावरी भेद पड़ावनहार। भ० च०
देहली चढ़ती खिण पड़े चढ़ आवे ड़ गर असमान। भ० च०
घर में बैठी डर करे, राते जाय मसाण। भ० च०
देख बिलाई थोचके सिंघ ने सम्मुख जाय। भ० च०
साप उसीसे दे सोवै उन्दर स्यु भिड़काय। भ० च०
कोयल मोर तनी परे बोले मीठा बोल। भ० च०
भीतर कड़वो कुम्प-सी बाहिर करे किलोल। भ० च०
खिण रोवे खिण में हँसे खिण मुख पाडै व्र्‌ थ। भ० च०
खिण राचे विरचे खिण में खिण दाता खिण स्‌ म। भ० च०
धर्म करता धंकल करे ऐसी नार अलाम। भ० च०
बन्दर ज्यू नचावे निज कंथ ने, जाणेक असल गुलाम। भ० च०
नारी न काजल कोठड़ी प वेहुं एकज रङ्ग। भ० च०
काजल नर कालो करे नारी करे शील भ ग। भ० च०
नारी ने वन वेलड़ी, दोनू एक स्वभाव। भ० च०
कटक रूंख कुशील नर तिण स्यु वेहु लग ज्याव। भ० च०

---

* भवियण। चरित्र सुणो नारी तणा

नाम छै अबला नारनो, पण सबली छै इण संसार। भ०
सबला सुर नर तेह ने, निबला कर दिया नार। भ० च०
सुर नर किन्नर देवता, त्याने पिण वश किया नार। भ०
नाख्या नरक निगोद में, त्यारी तो बम्ब न बार। भ० च०
नैण वैण नारी तणा, वचनज तीखा सेल। भ०
अँग तीखो तलवार ज्यूं, इण मारयो सकल सकेल। भ० च०
विरची तो बाघन ज्युं बुरी, स्त्री अनरथ मूल। भ०
पाप करी पोतै भरै, अंग उपजावै सूल। भ० च०
मोर तणी पर नेहना, बोलै मीठा बोल। भ०
साप सपू छोई गलै, पाड़ लेवै नर भोल। भ० च०
पुरुष पोतै कपड़ा जिसा, नर गुण नवी भात। भ०
नारी कातर वश पड्यां, काटै है दिन रात। भ० च०
बाघन बुरी बन मांयली, बिलगी पकड़ी खाय। भ०
नारी वाघण वश पड्या, नर न्हासी किया जाय। भ० च०
फाटा कानारी जोगणी, तीन लोक ने खाय। भ०
जीवंती चुटे कालजो, मुवा नर्क ले जाय। भ० च०
नारी लखणा नाहरी, करै वचन री चोट। भ०
केईक मन्त जन ऊवरया, लीधी दयानी ओट। भ० च०
त्रिया मदन तलावड़ी, डूब्यो बहु ससार। भ०
केईक उत्तम नर ऊवरया, सत गुरु वचन सभाल। भ० च०
जिम जलोक जल मायली, तिम नारी पिण जाण। भ०
वा लागी लोही पीवं, नारी पियै निज प्राण। भ० च०
राता कपड़ा पहिर ने, काठा बाध्या माथा रा केश। भ०
हाथा मेंदी लगाय ने, इण ठगोरी ठगियो सारो देश। भ० च०

कोक कहै ग्रह बारमो आगो हणे प्राण । भ०
हाले नरक निगोद में, नारी नव ग्रह जाण । भ० च०
इण संसार असार में तिणमें मोटी गाल । भ
माणस खोवे मारीजे, पावे दोवर माल । भ० च०

स्वामीजी जिस चीज का वर्णन करने बैठते, उसका परम से चरम कोटि का सुन्दर वर्णन उपस्थित कर सकते। उनकी बुद्धि सावण-भादों के बादलों की तरह बरसती रहती और नए भाव, नई उपमाएं, नए दृष्टान्त, नई सूझ, नये स्वर और नई ताल की बूंदों से श्रोता के हृदय हरे-भरे होते रहते। वे अनुपम उपदेश अनुपम रूपक और अनुभव ज्ञान की त्रिवेणी बहा देते। उनकी लेखनी कभी रुकती नहीं थी। उनकी वाचा में कभी शिथिलता नहीं आती थी।

कुलटा के साहसिक स्वभाव का जो चित्रण स्वामीजी ने ऊपर किया है, वह मानव स्वभाव की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भावनाओं का तलस्पर्शी अध्ययन उपस्थित करता है। स्वामीजी के हृदय में सती स्त्रियों के प्रति आदर की भावना है पर उन्हें तो यहां पर कुलटा नारी के स्वभाव का चित्रण करना है और इसे बड़ी ही खूबी के साथ उन्होंने किया है। एक ओर अबला की अबलता के उदाहरण हैं। दूसरी ओर कुलटा के असाधारण साहसिकता के उदाहरण। कुलटा नारी को काजल की कोठरी की उपमा स्वभाविक ही नहीं पर सर्वथा उपयुक्त भी है। काजल वस्त्र और शरीर को काला करता है; कुलटा नारी शील को कलुषित करती है। कुलटा नारी के स्वभाव की तुलना वन-बेल के साथ बड़ी ही सुन्दर की है। वन-बेल कांटों वाले रूख के चिपट जाती है, कुलटा नारी दुश्चरित्र पुरुष से प्रेम करती है। नारी के नैनों को बाण, मधुर प्रेममय में मधुर शब्दों को भाले की उपमा, उरोज आदि अंगों को दोधारी तलवार की उपमा—कवि की वैराग्य भावनाओं का सुन्दर परिचय देता है। नारी इन शस्त्रों से सुसज्जित हो—किस तरह सारी सृष्टि का संहार करती

है—यह कवि ने थोड़े, परन्तु सचोट शब्दों में व्यक्त किया है। "पाप करी पोते भरे, अग उपजावे सूल" कितना सुन्दर और अभिव्यक्तिपूर्ण है। मोर में एक ओर मीठी बोली होती है, दूसरी ओर सपूछ सर्प को निगल जाने की क्रूरता। स्वामीजी कहते हैं कि कुलटा नारी में भी मोर का यह स्वभाव घटता हैं।' स्वामीजी कहते हैं कि नारी दर्जन की तरह है जो पुरुष के गुण रूपी भांति २ के वस्त्रों को रात दिन कतरन करती रहती है। नारीको योगिनी की उपमा भी एक अनोखी सूझ है। "जीवन्ती चूटे कालजो, मूवा नर्क ले जाय" तो वैरागी हृदय की अनुभव वाणी है। कुलटा नारी को नव ग्रह की उपमा, मदन-तालाब की उपमा, जलोका की उपमा—कवि की ऊँची उड़ान और अनोखी सूझ का परिचायक है। स्वामीजी की कृतियां इसी तरह अपूर्व काव्य रस से ओत-प्रोत, सरस, सुबोध और ज्ञानमय हैं।

स्वामीजी की कविता क्या है—एक अनुभवी ज्ञानी की अनोखी वाचा है जो हृदय-तन्त्री पर एक चिर मधुर संगीत छोड़ जाती है। स्वामीजी ने काव्य की वीणा पर इसी तरह के अनेक चिर यौवनमय संगीत गाये हैं।

स्वामीजी केवल उपदेशक कवि ही नहीं थे परन्तु कुशल चरित्र-चित्रकार भी थे। उनके व्याख्यान कलापूर्ण चारित्र-चित्रण की विशेषता के अपूर्व उदाहरण हैं। मानव भावों का सूक्ष्म से सूक्ष्म विश्लेषण करने मे स्वामीजी उतने ही सिद्ध हस्त थे, जितनी कि ग्रामोफोन के रेकार्ड पर चलने वाली नुकीली सूई रेकार्ड के गान को स्पष्ट करने में होती है। उनके मनोवैज्ञानिक कौशल और चरित्र-चित्रण की खूबी को देखना हो तो उनकी अमर कीर्ति 'सुदर्शन सेठ' के व्याख्यान पर दृष्टि डालिये। सुदर्शन सेठ अपने मित्र मंत्री कपिल के घर जाता है। कपिल की स्त्री कपिला सुदर्शन पर मोहित हो जाती है। वह 'रूपे रम्भा सारखी, अपछर ने उणि-हार' तो थी ही, पर साथ ही 'रूपवंत पुरुष देखे पारको, करती न शंके प्रीत'—ऐसी कुलटा भी थी। 'रूप देख विरहणी थई'—सुदर्शन के रूप को देखकर वह विरह

व्याकुल हो गई। 'काम तणे वश कामणी रे लाल, ना गिणे काज अकाज'—काम के वश हुई कामिनी किस तरह कार्य-अकार्य को ओर दृष्टि नहीं रखती इसका सुन्दर चित्रण कवि ने किया है। विरह-व्याकुल कपिला अपनी दासी को सेठ सुदर्शन के पास भेजती है और वह छल-प्रपंच कर सेठ को महल में बुला लाती है। इस समय कुलटा कपिला की काली करतूत का चित्रण बड़ा ही रोमांचकारी है। सुदर्शन के मन की स्थिति भी बड़ी ही विचित्र होती है। सुदर्शन की मेरु के समान सुदृढ़ मनोदशा का चित्रण कवि ने बड़े ही सुन्दर रूप में किया है। इस अनहोनी घटना को घटित देख कर 'गात्र पसेओ चल्यो, कम्पण लागी देह'—सुदर्शन के शरीर में पसीना बह चला, शरीर कांपने लगा और 'विलखो थयो स्वरूप'—चहरा उदास हो गया। वह सोचने लगा 'मैं चरित्र न जाण्यों नार नो, तिण स्यूं आय फस्यो छूं एह'—और फिर उसने दृढ़ प्रतिज्ञा धारण की 'पिण शील न खडूं माहरो, आ करे अनेक उपाय, जो वस छै म्हारी आत्मा तो न सके कोई चलाय।' कपिला निराश हो गई। वह 'मूके ऊंडा निश्वास'—गहरे निश्वास लेने लगी और 'म्हारी लाज शर्म दोनूं गई, कोई न सरियो काज'—ऐसा विचार कर पछताने लगी।

उपरोक्त घटना के बाद चम्पा नगरी के महाराजा दधिवाहन की महारानी अभया सुदर्शन पर मोहित हो जाती है। कपिला पूर्व वृत्त कह कर महारानी को सुदर्शन के प्रेम में न फसने की सलाह देती है। अभया कपिला को 'तोने पुरुष ने वश करवा तणी, कला न दीसे लिगार'—कहकर उसे मूढ़-गंवार बतलाती है। कपिला कहती है—'आपतो बड़ी चतुर—सुजान हैं। देखूं! कैसे सुदर्शन को मोहित करती हैं!' इस तरह दोनों में जिदवाद होता है और अभया जिद पर चढ़ जाती है। जिद पर चढ़ी हुई नारी का चित्रण कवि ने इतना सुन्दर किया है कि पढ़कर मन क्षुब्ध हो जाता है।

अभया सुदर्शन को पराजय करने का बीड़ा उठाती है। वह अपनी धाय से

अपनी मनोदशा प्रकट कर, सेठ सुदर्शन से मिलाने की युक्ति करने का अनुरोध करती है। हठ पर चढ़ी हुई विषयान्ध नारी की मनोस्थिति का सूक्ष्म निरीक्षण करना हो तो अभया को इन बातों को सुनिये। विषयान्ध प्रेमिका को परपुरुष किस रूप में दिखायी देता है—इसका सुन्दर वर्णन यहां आया है। कवि की गूढ तूलिका का कौशल इस वर्णन में बड़े ही सुन्दर रूप में प्रगट हुआ है।

अभया राणी कहै धाय ने, म्हांरी बात सुणो चित्त ल्याय हे माय।
थे ब स्यूं मोटी करी, तोस्यूं बात न राखूं छिपाय हे माय ॥अभया०॥*
मुझ एक मनोरथ ऊपनो, बस रयो छै मन मांय हे माय।
ते बात लजालु छै घणी, पिण कह्यां बिना सरै नांय हे माय ॥
वसन्त ऋतु खेलण गई, राय सहित वन मझार हे माय।
तिण ठामे चम्पानगरी तणा, आया घणा नर नार हे माय ॥
च्यार पुत्र सहित परिवार स्युं, तिहां आयो सुदर्शण सेठ हे माय।
और सेठ बिजा पिण आविया, ते सुदर्शन रे हेठ हे माय ॥
तिणरा अणियाला लोयण भला, जाणक शोभें भाण हे माय।
मुख पूनमचन्द सारखो, तेहनो रूप रसाल हे माय ॥
तिणरी काया कञ्चन सारखी, सूर्य्य जिसो प्रकाश हे माय।
शीतल चन्दन सारखो हेम सरीखो, उजलो प्रकाश हे माय ॥
तिण ने दिठा लोयन ठरै, तेहनो सोम स्वभाव हे माय।
तिण आगे बीजा स्यूं वापड़ा, कुण राणो कुण राव हे माय ॥
म्हांरो मन लागो छै तेह स्यु, जाणै रहुं सेठ रे पास हे माय।
एह मनोरथ ऊपनो, रात दिवस रहो छू विमास हे माय ॥
तिण स्यू भूख तृषा न्हासी गई, निश दिन रह् छू उदास हे माय।
म्हारो मन कठेई लागे नहीं, तिणस्यु कहू छू तुमारे पास हे माय ॥

---

* अभया रणी कहे धाय ने।

हू मोही सुदर्शण सेठ स्यु, तिण स्यु लाग्यो म्हारो राग हे माय।
सेठ स्यूं मिलूं नहीं स्यां लगे, दिन २ गलै छै म्हारो अंग हे माय॥
मैं कपिला ने वद २ कह्यो, वश करू सुदर्शण सेठ हे माय।
सुख भोगवूं नहीं सेठ स्यूं ए वचन जाय म्हारो हेठ हे माय॥
ए वचन तो ज्यांही रह्यो, म्हारी बछा पूरण हाम हे माय।
ए मनोरथ पूर्या विना, म्हारे दाय न लागे काम हे माय॥
ए बात कही तुम्ह आगलै, अन्तर न राख्यो कोय हे माय।
हिवै सेठ सुदर्शण भणी, वेग मिलावो मोय हे माय॥
सौ वातां एक बात छै, थे कहो कठा लग जाय हे माय।
लाड पूरो माय मांहरो, तो जाणूं साची धाय हे माय॥

उपरोक्त अनुरोध के बाद पण्डिता धाय और रानी अभया के बीच जो वार्तालाप होता है, वह बड़ा ही रसप्रद और स्वाभाविक है। पण्डिता की हित-शिक्षा और अभया का जिद दोनों चरम कोटि को पहुँच जाते हैं। पाठक इसका भी रसास्वादन करें।

पण्डिता धाय—

राणी ने हे समझावै पण्डिता धाय सुण बाइ चित्त लगाय
एक सिखावण माहरी जी
इसड़ी वातां हे कहै बाइ मूढ गींवार के राय तणी पटनार
ए बात थाने जुगती नहीं जी
ऊँचा कुल में हे बाइ थे उपन्या आण, बाई थे चतुर सुजाण
ए नीच बात किम काढिये जी
इण वातां हे बाइ लाजे तुम्ह तात, वले लाजे तुम मात
वले पीहर लाजे तुम तणो जी

एहवी वाता हे वाई लाजे माय मोसाल, निज, कुल सासो निहाल
त्यांने लागे घणी मोटो मैंहणो जी
एक पीहर हे दूजो सासरो जाण, बेहु कुल चन्द समान
दोनूं पख थारै निरमला जी
इण वाता हे वाई लागै कुल ने कलङ्क, लागे पिव्या लग लङ्क
ते सुण २ ने माथो नीचो करै जी
एहवी बातां हे वाई सुगे देश परदेश, सुणसी राय नरेश
निंदा करसो तुम तणी जी
राज माहे हे वाई थाँरी मोटी भण्ड, होसी जगत में भण्ड
शील विना एक पलक मे जी
शील विना हे वाई फिट २ करै सहु लोय, अपजश अकीरत होय
नर-नारी मुह मचकोड़सी जी
पिता सूपी हे वाई घणा पुरुषा री साख, तिण ऊपर निसचो राख
पुरुष तणी सेवा करो जी
पर पुरुष हे वाई जाणो भाई समान, ए सीख हमारी मान
ज्यूं माम वधै थारी जगत् मे जी
घणी शोभै हे वाई चन्द्रमा स्युं रात, तिम नारी नी जात
शील थकी शोभै घणी जी
जल विन नदी हे नहीं शोभै लिगार, तिम नारी शिणगार
शील विना शोभै नहीं जी
शील विना हे वाई लागै कुल ने कलङ्क, ज्यूं राजेसर लङ्क
कुल ने कलङ्क चढावियो जी
शील विना हे वाई रुलियो अनेक, मैणरेहा ने विशेष
मणरथ राजा मर नरके गयो जी

शील थकी हे सीता हुई कुलवन्ती नार, ते गई जनम सुधार
कुल निरमल कियो आपणो जी
शील थकी हे बच्यो द्रौपदी रो चीर, तिण पाल्यो निरमल शील
जनम सुधार्यो आपरो जी
शील बिना हे बाइ घणा नर नार, गया जमारो हार
पड़िया छे नरक निगोद में जी
शील थकी हे बाई घणा नर नार, गया जमारो सुधार
त्यांरो जश कीरत छे लोक में जी
शील बिना हे बाइ जसोमती नी भाव, उतर गई छ सताब
शील बिना एक पलक में जी
इसो शील हे बाइ पालो मन चित ल्याय, पालो मन समझाय
बांछा तजो पर पुरुष नो जी
म्हारी मत खु हे बाई सोलावू छू तोय, निज कुल सामो जोय
पुरुष परायो परहरो जी"

रानी अभया—

'वचन काजे हो भायजी हरचन्द बड़वीर आण्यो डूम घर नीर
नीच तणी सेवा करीजी
वचन काजे हो लछमण ने श्री राम, त्यांरो परसिध नाम
बारे बरस बनमें रह्याजी
वचन काजे हो हणुवन्त बड़वीर, गयो लंकारे तीर
सीताजी रे सारखेजी
रामजी दीधो हो बभीषण ने लंका नो राज, करी रावन रो अकाज
लंका बभीषण ने थापियोजी

पांच पांडव हो धायजी वचना रे काज, गयो ज्यारो राज
नगर बैराट सेवा करी जी
वचन चूक्या हो त्यांरी नही रही शर्म, तिण रो ओहिज मर्म
तिण स्यु खपू छू म्हारे वचन ने जी"

पण्डिता धाय :

एहवा वचन हो राणी रा सुण धाय, फेर बोलै वले बाय
"इसड़ी धेठाई बाई मत करो जी
एहवा वचन हो सुणसी महाराज, तो थासी बड़ो रे अकाज
तुमने मोत कुमोते मारसी जी
और सगलो हे वाई तुम परसङ्ग, ते पिण होसी भङ्ग
इण वात में शङ्का को नहीं जी
तिण कारण हे वाई थाने कहू हू ताय, निज मन ल्यो समझाय
लीधी टेक पाछी परहरो जी"

रानी अभया :

"सेठजी ने हो धाय तुम ल्यावो छिपाय, ज्यु नही जाणै राय
पछै छानो पिण पोहचायज्यो जी
छानो आणी हो छानो दीज्यो पहुचाय, ते किम जाणसी राय
थे चिन्ता करो किम कारणे जी"

पण्डिता धाय :

धाय भाखे "हे वाई छानी रहसो किम वात, राय करसी तुम घात
ए वात छिपाई वाई ना छिपै जी
पर पुरुष हे वाई जाणो ल्हसण समान, खावे खूणै वैसाण
जिहां जाय तिहां परगट हुवै जी

सेठ चाहूवो हे बाई चम्पा नगर मझार, थे राय तणी पटनार
ते तो छिपाई बाई ना छिपैजी"

रानी अभया

"होणहार होणी है ज्यू होसी म्हारी धाय, सेठने ल्यावो वेग बुलाय
नहीं तो कण्ठ कटारी खावी मरूं जी"

राणी का अन्तिम निर्णय सुन कर धाय को मर्मान्तिक वेदना होती है। उसका चित्रण इस प्रकार है

सुणी ने हो राणी रा वैण, धाय न्हाखे आंसूड़ा नैण
कर मसलै माथो धूणवी जी

मोटा कुल में हो होवै इसड़ी बात, तो किहां थी कुघलात
कोई विघ्न होसी इण राज में जी

पूर्व सेव्या हो उदै आया दिसै पाप होसी बहुलो सन्ताप
सुखमें दुख उपनो घणो जी

कुशीला नारी कितनी निर्लज्ज होती है, यह अभया के चरित्र में सुन्दर रूप से अङ्कित हुआ है। पण्डिता धाय की हित शिक्षा स्वर्णाक्षरों में अङ्कित करने योग्य है। शील से पतित होने से जो लौकिक पारलौकिक बुराई होती है, प्रसंग वश उसका बड़ा ही प्रभावशाली वर्णन आया है। "पर पुरुष हे बाई जाणो भाई समान, ज्यू माम बधै थारी जगतमें जी"—कितना गम्भीर उपदेश पद है! 'जैसे चन्द्रमा से रात शोभा पाती है, उसी तरह नारी-जाति शील से अत्यन्त शोभा पाती है।" जिस तरह जल शून्य नदी जरा भी शोभा नहीं पाती, उसी तरह शील बिना शृङ्गार-सुसज्जित नारी भी शोभा नहीं पाती।" नारी की रात्री और नदी के साथ, और शील की चन्द्रमा और जल के साथ उपमा कवि की गहरी सूझ का परिचय देती है। "पर पुरुष हे बाई ल्हसण समान खावे लुणे बखाण। जिहा जाय तिहा

परगट हुवै जी ।" पर पुरुष के साथ लहसुन की तुलना स्वामीजी के संस्कारी दृष्टान्तिक होने का सुन्दर परिचय कराती है ।

मनोदशा के ऐसे ही अद्भुत और बारीक चित्र इस काव्य में शुरू से आखिर तक बिखरे हुए हैं । अभया रानी सुदर्शन को वश में न कर सकी, तब क्रोधित हो, उस पर झूठा इल्जाम लगा कर महाराज से उसे दण्डित कराने की चेष्टा करने लगी । महाराज ने सुदर्शन को शूली पर चढ़ाने का हुक्म दिया । यह बात नगर मे हाथो-हाथ फैल गई । सुदर्शन जैसे सच्चरित्र व्यक्ति पर व्यभिचार का आरोप किसी को सत्य नही लगता था । गाव के लोगो ने मिलकर राजा से पुकार करने का निश्चय किया । 'इस तरह गाढी मन में धार'—उन्होने राजा के पास जाकर जो अर्ज की, उसकी अन्त·स्थलता देख कर पाठक प्रफुल्लित हुए बिना नही रहेगे ।

राजा प्रजा की नही सुनता । वधिक सुदर्शन को शूली-स्थान की ओर ले जाने के लिए नगर के मध्य से होकर निकलते है । प्रजा मे हाहाकार मच जाता है । अपने घर के सामने आने पर सुदर्शन को अपनी स्त्री मनोरमा से मिलने दिया जाता है । दृढधर्मी स्त्री-पुरुष की परस्पर विदाई अत्यन्त मनोहर और धर्म-रस पूर्ण होती है । मनोरमा अभिग्रह लेती है । अभया अपना षड्यन्त्र सफल होते देख, हर्षित होती है । इन सबका बड़ा ही सुन्दर और हृदयग्राही वर्णन कवि ने अपनी इस कृति में किया है । सेठ सुदर्शन को शूली के पास खड़ा कर दिया जाता है । उस समय सुदर्शन की दृढता को ध्यान में रखने से दु ख में पड़े हुए कायर से कायर मनुष्य के हृदय में भी सत् विचारणा जागृत होकर सच्चा पुरुषार्थ जाग उठता है । पाठको को यह मनो-मुग्धकारी चित्र हम मूल पुस्तक मे अवलोकन करने का आग्रह करते हैं ।